(शान्ति राजाकी बहिन है) सुमति और शान्ति
मन्त्री वैराग्य वैराग्य
सेना (भट) निदिध्यासन यमनियम
सत्संकल्प, ब्रह्मचर्य
व्रत आदि

प्र० नाटकमें राजाकी बहिन और रानी आदिकी सखियोंका वर्णन है। श्रद्धा सुमति रानीकी सखी और शान्तिकी माता है। करुणा शान्तिकी सखी है। मैत्री श्रद्धाकी सखी है। क्षमा विवेककी दासी है। वस्तु विचार (ज्ञान-विज्ञान) विवेकके किंकर हैं। और 'संतोष' वस्तु विचारका साथी है।

राज करै निजमन्त्र
काम क्रोध लोभ दंभ अहंकारादि मन्त्री और सेनापति है। *'काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि।'* (३। ४३)।', *सेनापति कामादि भट दंभ कपट पाखंड।'* (७। ७१)।'

☞ प्र० नाटकमें रानीकी सखी विभ्रमावती है। काम, क्रोध, लोभकी स्त्रियाँ क्रमसे रति, हिंसा और तृष्णा हैं। अहंकारका पुत्र लोभ और मोहका पुत्र दंभ है। ☞ विनय पद ५९ मोहका रावणसे रूपक देकर कुम्भकर्णको अहंकार, मेघनादको काम, अतिकायको लोभ, महोदरको मत्सर और देवान्तको क्रोध इत्यादि कहा है।

मित्र भक्ति। विवेककी विजयश्री सरस्वती भक्तिकी सखी है। *'जय पाइय सो हरिभगति।'* (७। १२०) रामचरन आश्रित चार्वाक
देश (राजधानी) × निवृत्ति × प्रवृत्ति

झरना झरहिं मत्त गज गाजहिं। मनहु निसान बिबिध बिधि बाजहिं॥५॥
चक चकोर चातक सुक पिक गन। कूजत मंजु मराल मुदित मन॥६॥
अलिगन गावत नाचत मोरा। जनु सुराजु मंगल चहुँ ओरा॥७॥
बेलि बिटप तृन सफल सफूला। सबु समाज मुद मंगल मूला॥८॥

दो०—रामसैल सोभा निरखि भरतु हृदय अति पेमु।
तापस तप फलु पाइ जिमि सुखी सिराने नेमु॥२३६॥

शब्दार्थ—*झरना*=पहाड़ोंके भीतरसे जहाँसे पानी बाहर गिरता है वह स्थान; पर्वतसे निकला हुआ जलप्रवाह; निर्झर; आबशार। पहाड़ या ऊँचे स्थानसे पानीकी धाराका गिरना। *तृन*=घास। अर्कप्रकाश नामक वैद्यकग्रन्थमें तृणगणके अन्तर्गत तीन प्रकारके बाँस, कुश, काँस, तीन प्रकारकी दूब, गाँडर, नरकट, गूदी, मूँज, डाभ, मोथा इत्यादि माने गये हैं। अथवा, बहुतसे घासके समान पौधे जो फूलवाले होते हैं उनसे यहाँ तात्पर्य है।

अर्थ—झरने झर रहे हैं, मतवाले हाथी गर्ज रहे हैं, मानो अनेक प्रकारके डंके-नगाड़े बज रहे हैं॥५॥ चक्रवाक, चकोर, चातक, तोते, कोयलोंके समूह और सुन्दर हंस प्रसन्न मनसे (अपनी-अपनी सुन्दर बोली) बोलते चहचहाते हैं॥६॥ भ्रमरोंके समूह गाते हैं, मोर नाचते हैं, मानो सुराज्यमें चारों ओर मंगल हो रहा है॥७॥ बेलें, वृक्ष और तृण सब फलफूलयुक्त हैं। सारा समाज आनन्द-मङ्गलका मूल है॥८॥ श्रीरामजीके पर्वतकी शोभा देखकर भरतजीके हृदयमें अतीव प्रेम हुआ, जैसे तपस्वी तपस्याका फल पाकर नियमकी समाप्ति होनेपर सुखी होता है॥२३६॥

नोट—१ (क) शहर, कस्बे, ग्राम, खेरे कहे, उनमें प्रजा चाहिये सो कही। फिर रक्षाके लिये चतुरंगिनी सेना कही। फौजमें डंका, नगाड़ा चाहिये; उन्हें तथा और-और भी अङ्ग यहाँ कहते हैं। (ख) **'चक चकोर'**… इति। मुदित मनसे इनका अपनी-अपनी बोली बोलना ताल, सारंगी, पखावज, वीणा, मृदङ्ग, सितार, तबला इत्यादिका बजना है—(रा० प्र० का मत है कि ये कौतुकी अर्थात् तमाशायी हैं)। भौंरे गायक हैं। मोर नाचनेवाले हैं। इन चार चरणोंमें महफिलका समाज कहा। नाच, गान, वाद्य ये सब मङ्गल-समयमें होते हैं। अतः कहा कि जैसे सुराज्यमें चारों ओर मङ्गल मनाया जाता है वैसे ही यहाँ चहुँदिशि

मङ्गलमोद उत्पन्न हो रहा है (पु० रा० कु०)। मिलान कीजिये गीतावली पद १५७ से—*'झिल्लि झाँझ झरना डफ पणव मृदंग निसान। भेरि उपंग भृङ्ग रव ताल कीर कलगान॥ हंस कपोत कबूतर बोलत चक्क चकोर। गावत मानहु नारिनर मुदित नगर चहुँ ओर'''*, पर यह फागका रूपक है और यहाँ राज्यका।

पा०, रा० प्र०—*'बेलि बिटप तृन''' '* इति। फलफूल-सहित लता, वृक्ष, तृण जो सब आनन्दमङ्गलमूल हैं वे ही सब समाज हैं अर्थात् नाच-रंग जलसा देखनेवाले हैं। भाव यह कि विटप पुरुष हैं, बेलि स्त्री हैं और तृण लड़के हैं। पुरुष इनको लिये नाच देख रहे हैं। फूलफलसे इनका झुकना वाह-वाह करना अर्थात् गाने-नाचनेवालोंकी दाद देना है।

खर्रा—भाव यह कि मङ्गल-समयमें फूलफल एकत्र किये ही जाते हैं, सो यहाँ वे स्वयं ही इकट्ठे हो रहे हैं। बेलि, विटप, तृण ये सब फूलफलसहित हो रहे हैं, इसीसे यह सब समाज मुदमङ्गलका मूल है। फूलफल सम्पन्न होना 'मुदित' होना है।

नोट—२ (क)—*'रामसैल सोभा निरखि'''* इति। यहाँ रामशैल-शोभा देखकर जो अतीव प्रेम बढ़ा उसका उदाहरण देते हैं। भरत तपस्वी हैं, तपका फल राम-आश्रम-प्राप्ति है। (तपका फल अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष है। अभी श्रीरामजीके दर्शन नहीं हुए, केवल रामशैलके दर्शन हुए हैं; इसीसे *'तप फल'* मात्र कहा गया। रामदर्शन तो समस्त शुभ साधनोंका 'सुहावना सुफल' है, जो अभी प्राप्त नहीं हुआ। यथा—*'सब साधन कर सुफल सुहावा। लषन राम सिय दरसनु पावा॥'* (२१०। ४)। यह आगे प्राप्त होगा। तबका सुख तो उत्प्रेक्षाका भी विषय नहीं रह जायगा)। (ख)—*'सुखी सिराने नेम'* इति। जो *'निसि भोजन इक लोग'* इत्यादि नेम-व्रत सब करते आये वह आज सफल हुआ, वह श्रम छूटा।

☞ज्यों-जयों भरतजी प्रभुके निकट होते जाते हैं त्यों-त्यों उनका प्रेमानन्द *'अधिक अधिक अधिकात।'* यह बात नीचेके मिलानसे स्पष्ट समझमें आ जावेगी।

(१) जब श्रीरामशैल कामदगिरिका दर्शन हुआ तब हृदयमें जो अति प्रेम हुआ उस सुखकी उपमा *'तापस तप फल पाइ जिमि सुखी सिराने नेम'* की दी।

(२) जब आश्रम देख पड़ा और वे उसमें प्रविष्ट हुए तब *'सब दुख दावा'* दूर हुआ। यथा—*'भरत दीख प्रभु आश्रम पावन। सकल सुमंगल सदन सुहावन॥ करत प्रबेस मिटे दुख दावा।'* (२३९। २-३) इसकी उत्प्रेक्षा *'योगी परमारथ पावा'* की की।

(३) जब श्रीसीताराम-लक्ष्मणजीके दर्शन हुए तब *'हर्ष शोक सुख दुख गन'* सभी भूल गये। यथा—*'देखे भरत लषन प्रभु आगे।'''बेदी पर मुनि साधु समाजू। सीय सहित राजत रघुराजू॥''' '* (२३९। ४, ६), *'''''सानुज* **सखा समेत मगन मन। बिसरे हरष सोक सुख दुख गन॥'** (२४०। १) इसकी कोई उत्प्रेक्षा भी नहीं कह सके। यह शुभ साधनोंका सुन्दर सर्वोत्कृष्ट फल है।

(४) जब *'पाहि पाहि कहि पाहि गुसाईं। भूतल परे लकुट की नाईं।'* और *'बरबस लिये उठाइ उर लाए कृपानिधान।'* (२४०)। तब तो *'परम प्रेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥'* मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार चारोंकी विस्मृति दोनोंको हो गयी। और जितनी मुनि-मण्डली आदि वहाँ थी सभी इनका परस्पर मिलन देखकर अपनी देहसुध भूल गयी। उस *'अगम सनेह'* तक पहुँचनेकी शक्ति तो विधि, हरि और हरके मनमें भी नहीं है। और उसका कथन **'कविकुल'** को भी *'अगम करम मन बानी'* है।

उत्तरोत्तर प्रेम बढ़ता गया। यहाँ मिलनेपर पूर्ण हुआ। श्रीरामजीके मिलापसे अधिक आनन्द कुछ नहीं है। इसीसे मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कारका **'बिसराना'** कहा। भाव कि मन आदि ही सुख-दुःखके हेतु हैं सो वे इधर ही रह गये फिर *'बिनु मन तन दुख सुख सुधि केही'*।

तब केवट ऊँचे चढ़ि धाई। कहेउ भरत सन भुजा उठाई॥ १॥
नाथ देखिअहिं बिटप बिसाला। पाकरि जंबु रसाल तमाला॥ २॥

जिन्ह तरुवरन्ह मध्य बटु सोहा। मंजु बिसाल देखि मनु मोहा॥३॥
नील सघन पल्लव फल लाला। अबिरल छाँह सुखद सब काला॥४॥
मानहुँ तिमिर अरुनमय रासी। बिरची बिधि सँकेलि सुषमा सी॥५॥

शब्दार्थ—**अबिरल**=जो भिन्न न हो, घनी, अव्यवच्छिन्न, सघन।

अर्थ—तब केवटने दौड़कर ऊँचेपर चढ़कर हाथ उठाकर भरतजीसे कहा॥१॥ हे नाथ! उन विशाल वृक्षोंको देखिये—वे पाकर, जामुन, आम और तमालके वृक्ष हैं॥२॥ जिन श्रेष्ठ वृक्षोंके बीचमें सुन्दर विशाल बरगदका वृक्ष शोभा दे रहा है, देखकर मन मोहित हो जाता है॥३॥ उसके पत्ते नीले और सघन हैं, फल लाल हैं, छाँह सघन है जो सब ऋतुओंमें सब समयमें सुख देनेवाली है (अर्थात् गर्मीमें धूपसे, वर्षामें जलसे, जाड़ेमें ठंढ और हवासे बचाती है)॥४॥ मानो ब्रह्माने अन्धकार और अरुणमयराशिको एकत्र करके परमाशोभा-सी खूब रचकर बना डाली है।

नोट—१ *'तब केवट ऊँचे चढ़ि धाई।'''* इति। (क) वाल्मीकीयकल्पमें श्रीभरतजीने शत्रुघ्नजी तथा निषादराजको बहुत साथियोंको लेकर वनमें श्रीरामजीका आश्रम ढूँढ़नेके लिये नियुक्त किया और स्वयं भी ब्राह्मणों आदिको साथ लेकर ढूँढ़ा है। उस समय वह बड़ा भयानक वन था। उसमें प्रवेश करके श्रीभरतने पर्वतपरके एक साल वृक्षपर चढ़कर आश्रमसे निकलते हुए धुएँको देखा। तब अन्य सब साथियोंको जो ढूँढ़नेमें लगे थे वहीं ठहराकर वे दोनों भाई गुहके साथ आश्रममें गये। (वाल्मी० २।९८।१—१८)। '**गुहेन सार्धं त्वरितो जगाम'''**।' (१८) २३८ (१) में भी देखिये। (ख) '**धाई**' से जनाया कि निषादको भी शीघ्र दर्शन प्राप्तिकी आतुरता थी और भरतजीकी आकुलता दूर करनेके लिये भी उसने ऐसा किया।

रा० प०—पाकर, जामुन, आम और तमालके बीचमें वटवृक्ष है। मानो शिवपञ्चायतन है—*'प्राकृतहू बट बूट बसत पुरारी हैं'*। वा, वट जटाधर हर हैं, जो पञ्चमुख होकर रामजीकी सेवाके लिये यहाँ विराजमान हैं।

पु० रा० कु०—चार वृक्ष मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार हैं, वट आत्मा है, जहाँ आत्मा वहाँ परमात्मा।

नोट—२ *'मानहु तिमिर अरुनमय रासी।'''* इति। इसके अर्थ प्रत्येक टीकाकारने पृथक्-पृथक् किये हैं।

(१) पत्ते नीले एवं सघन हैं इससे अन्धकारकी प्रधानता दिखायी और फल लाल हैं और बहुत हैं इससे ललामीकी प्रधानता दिखायी। वृक्षमें ये दोनों प्रधान हैं और एकत्र हैं। इससे जो शोभा उत्पन्न हुई देख पड़ती है वही यहाँ उत्प्रेक्षाका विषय है। भाव यह कि ये पत्ते और फलसहित वटवृक्ष नहीं है वरन् मानो अन्धकारकी राशि और अरुणमयराशि है जिसे विधाताने सब जगहसे समेटकर एक परमाशोभा-सी रचकर बना डाली है। भाव यह कि इन दोनोंसे परमाशोभा वहाँ छा रही है। **मय**=परिपूर्ण, तद्रूप। (पु० रा० कु०)

(२) मानो अन्धकार और अरुण अर्थात् सूर्य दोनोंको मिलाकर और त्रिलोककी शोभाको बटोरकर ब्रह्माने एक राशि (सी) कर दी है। (पाँड़ेजी)

(३) 'मानो अन्धकार (श्यामता) और ललाई मिली हुई शोभाकी राशिके समान इकट्ठी करके ब्रह्माने बनायी हो।' (वीर)

(४) मानो तम और रक्तवर्ण सब शोभा विधाताने एकत्र करके इस वटमें धर दी है। (पं०)

(५) मानो वटवृक्ष नहीं है तिमिर और अरुणमयराशि है। विधाताने परमाशोभा-सदृश बटोरकर रची है। (रा० प्र०)

(६) *'मानो तिमिर और अरुनमय सुखमासी राशि सकेलि बिधि रची है'* (श्रीनंगेपरमहंसजी)।

(७) मानो ब्रह्माजीने परमाशोभाको एकत्र करके अन्धकार और लालिमामयी राशि-सी रच दी है। (मानसाङ्क)।

अर्थमें झगड़ेकी जड़ '**सी**' शब्द है। '**सी**' का अर्थ सदृश है। '**सी**' को क्रिया भी मान सकते हैं। सी=है। इस अर्थमें इसका प्रयोग बालकाण्डमें आया है।

ए तरु सरित समीप गोसाईं। रघुबर परनकुटी जहँ छाई॥ ६॥
तुलसी तरुबर बिबिध सुहाए। कहुँ कहुँ सिय कहुँ लषन लगाए॥ ७॥
बट छायाँ बेदिका बनाई। सिय निज पानि सरोज सुहाई॥ ८॥
दो०—जहाँ बैठि मुनिगन सहित नित सियरामु सुजान।
सुनहिं कथा इतिहास सब आगम निगम पुरान॥ २३७॥

अर्थ—हे गोसाईं! ये वृक्ष नदीके समीप हैं जहाँपर श्रीरघुनाथजीकी पर्णकुटी छायी हुई है॥ ६॥ अनेक प्रकारके बहुत-से सुन्दर तुलसीके वृक्ष कहीं-कहीं श्रीसीताजीने और कहीं-कहीं लक्ष्मणजीने लगाये हैं॥ ७॥ बरगदकी छायामें श्रीसीताजीने अपने हस्तकमलोंसे सुन्दर वेदी बनायी है॥ ८॥ जहाँ नित्य ही सुजान श्रीसीतारामजी मुनिसमाजसहित बैठकर शास्त्र, वेद, पुराण, इतिहास सबकी कथाएँ सुनते हैं॥ २३७॥

नोट—१ (क) *'परनकुटी जहँ छाई'*—यह सुन्दर विशाल पर्णशाला साल, ताल और अश्वकर्ण नामक वृक्षोंके बहुत पत्तोंसे ढकी हुई थी जैसे यज्ञवेदी कुशोंसे ढक दी जाती है। यथा—'**सालतालाश्वकर्णानां पर्णैर्बहुभिरावृताम्। विशालां मृदुविस्तीर्णां कुशैर्वेदिमिवाध्वरे॥**' (वाल्मी० २।९९।१९) (ख)—यहाँ यह शङ्का लोग करते हैं कि निषादराज तो यमुनातटसे लौटा दिये गये थे। उनको पर्णकुटीकी व्यवस्था कैसे मालूम हुई? इसका समाधान यह है कि ये सब आसपासके वनसे वाकिफ हैं, इनके सेवक और जातिके लोग सब यहाँ बसते हैं और बराबर उनके द्वारा यह सब समाचार मिलता ही है। इसीसे वे पूरा पता जानते हैं। यद्यपि प्रभुके पास उनके सङ्कोचसे नहीं जाते रहे हैं। इसकी पुष्टि गीतावलीसे भी होती है। वे बराबर खबर भरतजीको देते गये हैं यथा—*'सुनी मैं सखि मंगल चाह सुहाई। सुभ पत्रिका निषादराजकी आजु भरत पहँ आई॥ कुवँर सो कुसल छेम अलि तेहि फल कुलगुरु कहँ पहुँचाई। गुरु कृपालु संभ्रम पुर घरघर सादर सबहि सुनाई॥ बधि बिराध सुरसाधु सुखी करि रिषि सिख आसिष पाई। कुंभज सिष्य समेत संग सिय मुदित चले दोउ भाई॥ रेवा बिंधि बीच सुपास थल बसे हैं परन गृह छाई। पंथ कथा रघुनाथ पथिक की तुलसिदास सुनि गाई॥'* (२।८९। १—४)

नोट—२ *'तुलसी तरुवर··'* इति।—यहाँ श्रीसीताजीकी सेवा भी दिखा दी है। इसी तरह जहाँ-जहाँ ठहरते थे वहाँ ये सेवा करती रहीं। और यह भी दिखाया है कि समय किस प्रकार व्यतीत करते हैं।

नोट—३ *'बट छाया बेदिका बनाई··'* इति। यह बेदी ईशानकोणकी ओर कुछ नीची थी। इसपर आग जलती रहती थी। यथा '**प्रागुदक्प्रवणां वेदिं विशालां दीप्तपावकाम्।**' (वाल्मी० २।९९।२४) यहाँके वर्णनसे जान पड़ता है कि पर्णकुटीके आगे अनेकों तुलसीके पौधे लगे हैं, उसके बाद वेदिका है। उसी क्रमसे लिख रहे हैं।

नोट—४ *'जहाँ बैठि मुनि गन सहित··'* इति। (क) श्रीरामजीका आश्रम मुनियों-तपस्वियोंसे युक्त था यह (वाल्मी० २। ९८) १८के '**स चित्रकूटे तु गिरौ निशम्य रामाश्रमं पुण्यजनोपपन्नम्।**' (१८) इस अर्ध श्लोकसे सिद्ध होता है। अ० रा० में भी आश्रमको मुनिवृन्दसेवित कहा है—'**ददर्श दूरादतिभासुरं शुभं रामस्य गेहं मुनिवृन्दसेवितम्।**' (२।८।६६) ये मुनिगण वहाँ क्या करते थे यह बात तुलसीदासजीने बतायी है कि वे *'कथा इतिहास सब आगम निगम पुरान'* कहा करते थे। और श्रीसीतारामजी सुना करते थे। *'नित'* से जनाया कि कथा नित्य-प्रति सबेरे, तीसरे पहर तथा रात्रिमें तीनों समय हुआ करती थी। (ख) कथा सुननेमें 'सुजान' विशेषण दिया है। भाव यह कि यद्यपि वे सब जानते हैं तो भी लोक-संग्रहके विचारसे सुनते हैं, हमारे सुननेसे इनका आदर सब करेंगे; दूसरे *'सास्त्र सुचिंतित पुनि पुनि देखिय'* इस अपनी कही हुई नीतिको चरितार्थ करके दिखा रहे हैं। ३। ३६। ८ देखिये; तीसरे इससे सबका मन बहलेगा, घरकी सुधिमें मन न जायगा। (ग) कथा-इतिहास पर्यायवाची हैं पर जो अर्थ यहाँ है उससे पुनरुक्ति नहीं होती। यदि 'कथा और इतिहास' ऐसा अर्थ करें तब पुनरुक्तिका भास हो सकता है। उस अर्थके करनेवाले

यह भेद कहते हैं कि कथा धर्मविषयक व्याख्यान है। और इतिहास=बीती हुई प्रसिद्ध घटनाएँ और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले पुरुषोंके कालक्रमका वर्णन। वा, कथा प्रबन्धसहित और इतिहाससे पुरवृत्त (पुराना चरित) अभिप्रेत है। इतिहास—(१। ६। ४) *'कहहिं बेद इतिहास पुराना'* में देखिये। आगम, निगम, पुराण बा० मं० श्लो० ७ **'नाना पुराणनिगमागमसंमतं'''** में देखिये। (घ) बहुतसे मुनि आकर बैठते हैं। इससे ज्ञात होता है कि जो जिस ग्रन्थका विशेष ज्ञाता है उससे ही वह ग्रन्थ सुनते हैं।

सखा बचन सुनि बिटप निहारी। उमगे भरत बिलोचन बारी॥ १॥
करत प्रनाम चले दोउ भाई। कहत प्रीति सारद* सकुचाई॥ २॥
हरषहिं निरखि राम पद अंका। मानहुँ पारसु पायेउ रंका॥ ३॥
रज सिर धरि हियँ नयनन्हि लावहिं। रघुबर मिलन सरिस सुख पावहिं॥ ४॥

शब्दार्थ—**उमगना**=उमड़ना, भरकर ऊपर उठना, बढ़ चलना, बाढ़ आना। **बिलोचन**=दोनों नेत्र। **अंका**=(चरण) चिह्न।

अर्थ—सखाका वचन सुनकर, वृक्षोंको देखकर श्रीभरतजीके दोनों नेत्रोंमें (मारे आनन्दके) जल उमड़ आया॥ १॥ दोनों भाई प्रणाम करते हुए चले। उनकी प्रीतिको कहनेमें सरस्वती भी सकुचाती हैं (क्योंकि यथार्थ नहीं कह सकतीं)॥ २॥ श्रीरामचरणचिह्नों (ध्वज-अंकुश-कुलिशादिक) को देखकर हर्षित होते हैं मानो दरिद्रने पारस पा लिया हो॥ ३॥ पदरजको सिरपर रखकर हृदय और नेत्रोंमें लगाते हैं और रघुनाथजीकी भेंटका-सा सुख पाते हैं। अर्थात् रजमें राम-भाव ही आ गया॥ ४॥

नोट—१ *'सखा बचन सुनि'''* इति। (क) वाल्मीकीयसे इसका समन्वय इस प्रकार हो सकता है कि प्रथम केवटने चढ़कर देखा और इनसे कहा तब इन्होंने भी सालके वृक्षपर चढ़कर देखा। (ख) *'उमगे भरत बिलोचन बारी'* कहकर जनाया कि वटवृक्ष देखकर यह जानकर कि श्रीरामजी यहाँ हैं उन्हें अपार-अथाह समुद्रसे पार जानेका-सा आनन्द हुआ, यथा—**'तं दृष्ट्वा भरतः श्रीमान् मुमोद सहबान्धवः। अत्र राम इति ज्ञात्वा गतः पारमिवाम्भसः॥'** (वाल्मी० २। ९८। १७) अतः दोनों नेत्रोंमें प्रेमाश्रु भर आये। (ग) **'उमगे'** से जनाया कि प्रेमाश्रुकी बाढ़ आ गयी, उनका वक्षःस्थल आनन्दाश्रुसे भीग गया। यह भी जनाया कि वट-विटप देखकर उनका हृदय श्रीरघुनाथजीकी भावनामें डूबा हुआ है। यथा—**'इत्यद्भुतप्रेमरसाप्लुताशयो विगाढचेता रघुनाथभावने। आनन्दजाश्रुस्नपितस्तनान्तरः'** (अ० रा० २। ९। ४)

नोट—२ *'करत प्रनाम चले'''* इति। जहाँसे देखा वहींसे साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करते जा रहे हैं। श्रीरामजीके चरणचिह्नोंसे अङ्कित पृथ्वीको देखते हैं तो वहाँकी रजको जिसपर चिह्न बना हुआ है सिर और आँखों तथा हृदयमें लगाते हैं और रजमें लोटने भी लगते हैं यह सब **'प्रनाम'** से जना दिया। जिस प्रेमसे वे यह सब करते हैं उसे सरस्वती कहते सकुचाती हैं। सरस्वती ही जिह्वा और हृदयमें बैठकर कहलाती है, वह इस समय नहीं कहला रही है, इससे जाना कि वह कह नहीं सकती, उसकी वहाँतक पहुँच नहीं है। इसीसे अ० रा० ने **'अद्भुतप्रेमरसाप्लुत'** शब्द दिये हैं।

नोट—३ (क) *'हरषहिं निरखि'''*—हर्षसे जनाया कि सारा शरीर प्रेम, आनन्दसे पुलकित हो रहा है। अ० रा० के **'अहो सुधन्योऽहममूनि रामपादारविन्दाङ्कितभूतलानि। पश्यामि यत्पादरजो विमृग्यं ब्रह्मादिदेवैः श्रुतिभिश्च नित्यम्॥'** (२। ९। ३) इस श्लोकके भावको **'हरषहिं'** शब्दसे जना दिया है। हर्ष मनका विषय है। वे मन-ही-मन कहने लगे—'अहो! मैं परम धन्य हूँ जो आज मैं श्रीरामचन्द्रजीके उन चरणारविन्दोंके चिह्नोंसे सुशोभित भूमिको देख रहा हूँ, जिनकी चरण-रजको ब्रह्मा आदि देवगण और सम्पूर्ण श्रुतियाँ भी सदा खोजती रहती हैं।' (ख)-*'रामपद अंका'*-श्रीरामजीके चरणोंमें अड़तालीस चिह्न हैं। प्रत्येकमें २४-२४ हैं। ग्रन्थकारने प्रायः चार चिह्नोंको ध्यानके लिये विशेष उपयोगी जानकर उन्हींको यत्र-तत्र कहा है। यथा-*'ध्वज कुलिस अंकुस*

* सादर—ला० सीतारामजी।

कंजु जुत बन फिरत कंटक किन लहे। पद कंज द्वंद्व मुकुंद रामरमेस नित्य भजामहे।' (७। १३)। इत्यादि। अतः कविके मतानुसार यहाँ उपर्युक्त चार अथवा ऊर्ध्वरेखासहित पाँच चिह्न पृथ्वीमें अङ्कित देखे। अ० रा० ने चारके नाम दिये हैं—'**स तत्र वज्राङ्कुशवारिजाञ्चितध्वजादिचिह्नानि पदानि सर्वतः। ददर्श रामस्य भुवोऽतिमङ्गलान्यचेष्टयत्पादरजःसु सानुजः।**' (२। ९। २) अर्थात् वहाँ उन्होंने सब ओर श्रीरामजीके वज्र, अंकुश, कमल और ध्वजा आदिके चिह्नोंसे सुशोभित तथा पृथ्वीके लिये अति मङ्गलमय चरणचिह्न देखे। उन्हें देखकर शत्रुघ्नसहित वे रजमें लोटने लगे।—'चरण-चिह्न' पर १। १९९। ३, ३। ३०। १८ देखिये। (ख) *'मानहु पारस पायेउ रंका'* इति। चारों भाई जब विवाह करके अवधमें आये तब माताओंको जो सुख हुआ उसे भी ऐसा ही कहा है—*'जनम रंकु जनु पारस पावा।'''एहि सुख तें सत कोटि गुन पावहि मातु अनंदु'* (१। ३५०) और श्रीरामजीने जब मार्गके गुप्त तापसको हृदयसे लगाया तब श्रीरामजीके विषयमें भी ऐसा ही कहा है—*'परम रंकु जनु पारस पावा।'* (१११। २)। वही आनन्द सूचित करनेके लिये यहाँ भी वही उत्प्रेक्षा की गयी।

नोट—४ *'रज सिर धरि हिय''' '* इति। मिलान कीजिये—*'चरन रेख रज आँखिन्ह लाई। बनइ न कहत प्रीति अधिकाई॥ कनकबिंदु दुइ चारिक देखे।'* (१९९। २-३)।' भाव कि रजमें भी श्रीरघुनाथ-भावना है, इसीसे राममिलनका सुख होता है।

देखि भरत गति अकथ अतीवाँ। प्रेम मगन मृग खग जड़ जीवाँ॥५॥
सखहिं सनेह बिबस मग भूला। कहि सुपंथ सुर बरषहिं फूला॥६॥
निरखि सिद्ध साधक अनुरागे। सहज सनेहु सराहन लागे॥७॥
होत न भूतल भाउ भरत को। अचर सचर चर अचर करत को॥८॥
दो०—पेम अमिअ मंदरु बिरहु भरत पयोधि गँभीर।
मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिंधु रघुबीर॥२३८॥

शब्दार्थ—**अतीव**=अतिशय, अत्यन्त अधिक। अमरकोषसे ज्ञात होता है कि 'इव', 'सु' आदि अतिशयका अर्थ देते हैं। जैसे सुकर्कश=अतिशय कर्कश। (पु० रा० कु०) अनुरागना=प्रेम करना, आसक्त होना—*'अस कहि भले भूप अनुरागे।'* (१। २४६। ७)। 'भाउ' (सं० भवसे)=अस्तित्व, जन्म, उत्पत्ति।=प्रेम।

अर्थ—श्रीभरतजीकी अतिशय अकथ्य दशाको देखकर पशु, पक्षी और जड़ (वृक्ष आदि) जीव प्रेममें मग्न हैं॥५॥ प्रेमके विशेष वश हो जानेसे सखाको रास्ता भूल गया (राह दिखाने चला तो आप ही राह भूल गया) तब देवता सुन्दर रास्ता बताकर फूल बरसाते हैं॥६॥ इस प्रेमकी दशाको देखकर सिद्ध और साधक अनुरक्त हो गये (प्रेममें भर गये) और उनके स्वाभाविक प्रेमकी प्रशंसा करने लगे (कि)॥७॥ यदि इस पृथ्वीपर श्रीभरतजीका जन्म एवं प्रेम न होता तो अचरको सचर और चरको अचर कौन करता?॥८॥ दयासागर रघुबीर रामचन्द्रजीने साधुरूपी देवताओंके लिये भरतरूपी गहरे समुद्रको विरहरूपी मन्दराचलद्वारा मथकर प्रेमरूपी अमृत प्रकट किया॥२३८॥

नोट—१ *'प्रेम मगन मृग खग जड़'* अर्थात् पशु-पक्षी-पाषाण आदिका यह हाल है तब निषाद तो मनुष्य ही है, वह स्नेहके विशेष वश क्यों न हो जाता?

नोट—२ *'कहि सुपंथ सुर बरषहिं फूला'* इति। श्रीभरतके प्रेमका प्रभाव है कि इन्द्रादि देवगण जो स्वार्थरत हैं वे ही मार्ग बताते हैं। कहते हैं कि यह मार्ग है और उस मार्गपर फूल बरसा देते हैं, जिससे मार्ग खोजना न पड़े, जहाँ फूल पड़े हैं उसी मार्गसे चल आवें। इस प्रकार पृथ्वीको कोमल भी कर रहे हैं और यह भागवत-सेवा भी करते जाते हैं—*'बरषहिं सुमन जनावहिं सेवा'*; क्योंकि देवगुरु उपदेश कर चुके हैं कि प्रभु *'मानत सुख सेवक सेवकाई।'* (२१९। २)।

नोट—३ *'निरखि सिद्ध साधक अनुरागे।'''* इति। सिद्ध जैसे कपिलदेव, सनकादिक और साधक जैसे शौनकादि। (पु० रा० कु०) वा, अणिमादि सिद्धियाँ जिनको प्राप्त हैं वे सिद्ध और ज्ञान, भक्ति वा जप-तपादि साधनमें लगे हैं वे साधक (वै०)।

नोट—४ *'होत न भूतल भाउ भरत को।'''* इति।—यहाँ **'भाउ'** के दोनों अर्थ (जन्म और प्रेम) मेरी समझमें गृहीत हैं। **'भव'** से यह बना है। यहाँ सिद्धसाधकका सराहना कहा और पूर्व जब श्रीरामजी उनके प्रेमपयोधिमें मग्न हो गये थे तब देवताओंने कहा था कि *'जौं न होत जग जनम भरत को। सकल धरम धुर धरनि धरत को'।* (२३३।१) बालकाण्ड वन्दना-प्रकरणमें भरतजीके दो गुण विशेष (धर्म और प्रेम) जो कहे हैं, यथा—*'प्रनवौं प्रथम भरतके चरना। जासु नेम ब्रत जाइ न बरना॥ रामचरन पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजै न पासू॥'* (१। १७। ३-४)। (नेम-व्रत धर्म है), वे ही इनमें यहाँ चरितार्थ कर दिखाये हैं। जन्म न होता तो धर्मको कौन धारण करता। *'सकल धरम धुर धरनि धरत को'* में धर्म, गुण चरितार्थ हुआ और यहाँ जन्म तथा प्रेम दोनों न होते तो अचरको सचर और चरको अचर कौन करता। इस तरह जन्म होनेपर दोनों काम हुए। *'अचर सचर'''* में जन्मके साथ ही विशेष प्रेम भी आवश्यक है। **'भाउ'** का यह अर्थ शब्दसागरमें भी दिया है और उदाहरणमें यही अर्धाली है। दीनजी भी इस अर्थको ठीक समझते हैं। पर प्रायः समस्त टीकाकारोंने 'प्रेम' अर्थ लिया है। [(प्र० सं०) पर अब मेरी समझमें 'प्रेम' होना स्वयं 'जन्म' भी सिद्ध करता है।] श्रीबैजनाथजी **'भाउ'** का अर्थ भाव (भावना) करते हुए लिखते हैं कि 'जबतक श्रीरामजी घरमें रहे तबतक भरतजी बन्धु-सखा-भावयुक्त, सेवकभाव रखते थे; पर जबसे इनको निमित्त बनाकर श्रीरामजीको वन दिया गया तबसे इन्होंने बन्धु और सखाभाव त्याग करके केवल शुद्ध सेवकभाव ग्रहण कर लिया और राज्यकी तो बात ही क्या, इन्होंने भूषण-वाहनतकका त्याग किया, पैदल चलने लगे। यदि यह भाव भरतजीका न होता तो *'अचर सचर चर अचर करत को।'* (वै०)

नोट—५ *'अचर सचर चर अचर करत को'।* —जिस स्थानपर यह कहा जा रहा है वहीं हमें इसके उदाहरण ढूँढ़ना चाहिये। वृक्ष आदि जड़ हैं, दूसरे देवता भी स्वार्थवश जडवत् हो रहे थे, यथा—*'समुझाए सुरगुर जड़ जागे।', 'बिबुध बिनय सुनि देवि सयानी। बोली सुर स्वारथ जड़ जानी॥'* (२४१।८, २९५। ३) ये चेतनका काम करने लगे—प्रेममें मग्न होनेसे ये प्रफुल्लित हो गये। पत्थर भी पसीजने लगे। स्वारथी देवता रास्ता बताते और पुष्पोंकी वर्षा करते हैं। और पशु-पक्षी मनुष्य ये चेतन हैं, जो चलते-फिरते बोलते हैं इत्यादि। वे जड़की तरह हो गये, देहसुध भूल गये, न हिले-डोले। मार्गप्रदर्शक निषाद जड़वत् हो गया। जड़ पदार्थोंकी चेतना पूर्व भी लिख आये हैं और आगे भी दिखायी है। यथा—*'द्रवहिं बचन सुनि कुलिस पषाना।'* (२२०। ७), *'भइ मृदुभूमि सकुचि मन मनहीं।'* (३११। ४), *'बिटप फूलि फलि तृन मृदुलाहीं।'* (३११। ७)

नोट—६ *'पेम अमिअ मंदरु बिरहु'''* 'इति। यहाँ क्षीरसिंधुसे सम-अभेदरूपक बाँधा गया है। समुद्र देवताओंके हितार्थ मथा गया कि उससे अमृत निकले जिसे पीकर ये दैत्योंको जीत सकें। मन्दराचल पर्वत मथानी बनाया गया था। इतने अङ्गोंमें सम-अभेदरूपक है। श्रीभरतजी क्षीरसिंधु, रामविरह मन्दराचल, साधु देवता, प्रेम अमृत, मथनेवाले यहाँ रघुवीर, वहाँ देवता-दैत्य, ये परस्पर उपमेय-उपमान हैं। (श्रीनंगे परमहंसजीका मत है कि भरतजीने अपने हृदय-समुद्रको स्वयं विरहरूप मन्दरसे मन्थन किया है।)

पु० रा० कु०—१ (क) यहाँ विशेषता यह है कि वहाँ बहुतसे मथनेवाले थे, यहाँ रघुनाथजीने कृपा करके स्वयं ही उसे प्रकट किया। पुनः, देवताओंने स्वार्थके लिये मथा और प्रभुने निःस्वार्थ पराये हितके लिये मथा और प्रेमामृतको प्रकट किया। इसीसे *'कृपासिंधु'* कहा। प्रभुने अकेले ही मथकर प्रेमको प्रकट कर दिया, दूसरेकी सहायता न ली। अतः **'रघुबीर'** कहा। पुनः, यत्नपूर्वक प्रकट किया, जिसमें भरतजीको दुःख भी न हुआ, अतः *'कृपासिंधु'* कहा। (ख) *'मथि प्रगटेउ'* कहकर जनाया कि प्रेमामृत उनके हृदयमें मौजूद था, पर गुप्त पड़ा था, लोग उसे जानते न थे, जब श्रीरामविरहद्वारा हृदय-सिंधु मथा गया तब वह प्रकट हुआ और सबके दृष्टिगोचर हुआ। *'साधुहित'* अर्थात् जो सन्मार्गी हैं वे ही प्रेमके अधिकारी हैं।

'कृपासिंधु प्रगटे' इति। भाव कि प्रेमामृत सबको सुलभ नहीं, जिसपर सिंधुवत् अगाध कृपा होती है उसीको मिलता है। वे ही कृपा करके दें तभी मिले। यथा—*'सो मनि जदपि प्रगट जग अहई।' 'राम कृपा बिनु नहिं कोउ लहई।'* (७। १२०) *'पेम अमिअ'* अर्थात् रामजीमें प्रेम करनेसे अमर हो जायँगे। भरत समुद्र और रघुवीर भी समुद्र, उनमें प्रेम है, इनमें कृपा है। यथा—*'भरत सुपेम पयोधि।'* (२१७), *'कृपासिंधु रघुबीर'।* अमृत ही वहाँ मुख्य था उसकी देवताओंको जरूरत थी, यहाँ साधुओंके लिये प्रेम ही मुख्य है और वैसे तो गुण बहुत हैं। इसलिये इन्हींके लिये प्रकट किया गया, यही बात भरद्वाजजीने कही है। यथा—*'हम सब कहँ उपदेसु। रामभगति रस सिद्धि हित भा यह समउ गनेसु॥'* (२०८)

सखा समेत मनोहर जोटा। लखउ न लषन सघन बन ओटा॥ १॥
भरत दीख प्रभु आश्रमु पावन। सकल सुमंगल सदनु सुहावन॥ २॥
करत प्रबेस मिटे दुख दावा। जनु जोगी परमारथु पावा॥ ३॥
देखे भरत लषन प्रभु आगें। पूँछे बचन कहत अनुरागें॥ ४॥
सीस जटा कटि मुनिपट बाँधें। तून कसें कर सरु धनु काँधें॥ ५॥

अर्थ—सखासहित भरतशत्रुघ्नजीकी सुन्दर जोड़ीको घने जंगलकी आड़के कारण लक्ष्मणजी नहीं देख पाये॥ १॥ भरतजीने श्रीरामजीका सुहावना और समस्त सुमङ्गलोंका धाम पवित्र आश्रम देखा॥ २॥ आश्रममें प्रवेश करते ही भरतजीके दुःखकी दावाग्नि मिट गयी, मानो योगीको परमार्थकी प्राप्ति हो गयी हो॥ ३॥ भरतजीने देखा कि लक्ष्मणजी प्रभुके आगे हैं, प्रभुके पूछे हुए वचनका उत्तर वा, पूछनेपर प्रेमसे वचन कह रहे हैं॥ ४॥ सिरपर जटा, कमरमें मुनियोंके-से वल्कल वस्त्र बाँधे और उसीमें तरकस कसे हैं, हाथमें बाण और कंधेपर धनुष है॥ ५॥

नोट—१ (क) *'मनोहर जोटा'*—भरत-शत्रुघ्नकी जोड़ी भी सुन्दर मनोहर है। यथा—*'श्याम गौर सुंदर दोउ जोरी। निरखहि छबि जननी तृन तोरी॥'* (१।१९८।५), *'सखि जस राम लषन कर जोटा। तैसेइ भूप संग दुइ ढोटा॥ स्याम गौर सब अंग सुहाए।'* (१।३११)।' *'मनोहर'* से सब अङ्ग सुडौल और सुन्दर, देखते ही मन हरनेवाले जनाया। (ख) *'लखउ न लषन'* अर्थात् 'यथा नाम तथा गुण' यहाँ चाहिये था सो न रहा। उसका कारण और कुछ नहीं है, केवल 'सघन बन ओट' है; नहीं तो अवश्य लख लेते। अथवा, लख न सके इससे 'लष-न' नाम यहाँ सार्थक हुआ। *'मिटे दुख दावा'*—पूर्व जो कहा था कि *'येहि दुख दाह दहइ दिन छाती'* वह जलन शान्त हुई।

पु० रा० कु०—*'जनु जोगी परमारथु पावा'।* योगीसे यहाँ अष्टाङ्गयोग-साधन करनेवाला अभिप्रेत है, जिसने योगके आठों अङ्गोंका साधन करके सिद्धि प्राप्त की हो। अन्तमें परम तत्त्व, कैवल्य मुक्ति प्राप्त होती है। योगदर्शनकार पतञ्जलि ऋषि इसके आचार्य हैं। जैसे योगी बहुत कष्ट पाकर तब परमार्थकी प्राप्ति करके सब कष्टोंसे मुक्त हो जाता है वैसे ही भरतजीको बहुत कष्ट उठानेपर राम-आश्रमकी प्राप्ति हुई, जिससे सब दुःख मिटे और भरतजीको बड़ा आनन्द हुआ; जैसे योगीको परमार्थ प्राप्तिपर आनन्द होता है। यथा—*'परमारथी प्रपंच बियोगी। ब्रह्मसुखहि अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा॥'* [ब्याहकर घर आनेपर माताओंका भी ऐसा ही आनन्द कहा है—*'भरी प्रमोद मातु सब सोहीं। पावा परमतत्त्व जनु जोगी। अमृत लहेउ जनु संतत रोगी॥ जनमरंकु जनु पारस पावा'''*।' (१। ३५०) (५—८) से मिलान कीजिये। वहाँ प्रमोद वैसे ही यहाँ इनको 'प्रमोद' अतीव आनन्द]

नोट—२ *'देखे भरत लषन प्रभु आगें। पूँछे'''* ' इति। (क) प्रभुने प्रश्न किया है, उसका उत्तर प्रेमपूर्वक दे रहे हैं। यहाँ दिखाया कि जब प्रभु कुछ पूछते हैं तभी कुछ कहते हैं और सदा प्रेमसे बोलते हैं, यह सेवक-धर्म है। जब बिना पूछे बोलना पड़ता है तब क्षमा माँगकर बोलते हैं। अथवा, सेवाका अवसर आ पड़नेपर आवश्यक समझकर ही बिना पूछे बोलते हैं, अन्यथा नहीं। यथा—*'बिनु पूछे कछु कहउँ*

गोसाईं। सेवक समय न ढीठ ढिठाईं॥' (२२७। ६), '*……प्रभु पद बंदि सीस रज राखी। बोले सत्य सहज बल भाषी॥ अनुचित नाथ न मानब मोरा।'* (२२९। ६-७) (ख)—प्रथम भागवत लक्ष्मणका दर्शन हुआ तब भगवत्-दर्शन हुआ। लक्ष्मण आसन छोड़े हुए प्रभुके सम्मुख सेवामें आरूढ़ हैं। (ग) *'सीस जटा……'*—जटाएँ शृङ्गवेरपुरमें ही बना ली थीं। यहाँ दिखाया कि लक्ष्मणजी भी पूरे मुनिवेष-से हैं। *'कटि मुनिपट बाँधे'* से जनाया कि फेंटा-सरीखा बाँधे हैं, क्योंकि उसमें तरकस बाँधना है। *'कर सर'* अर्थात् दाहिने हाथमें बाण है। *'धनु काँधें'*—अर्थात् बाएँ काँधेपर धनुष है। इससे सेवामें सन्नद्ध जनाया।

बेदी पर मुनि साधु समाजू। सीय सहित राजत रघुराजू॥६॥
बलकल बसन जटिल तनु स्यामा। जनु मुनि बेष कीन्ह रति कामा॥७॥
कर कमलनि धनु सायकु फेरत। जिय की जरनि हरत हँसि हेरत॥८॥
दो०—लसत मंजु मुनिमंडली मध्य सीय रघुचंदु।
ग्यानसभा जनु तनु धरे भगति सच्चिदानंदु॥२३९॥

शब्दार्थ—**जटिल**=जटाधारी। **फेरना**=चारों ओर चलाना, मण्डलाकार गति देना, घुमाना। 'लसना'=शोभित होना, विराजना, विद्यमान होना।

अर्थ—(श्रीभरतजीने देखा कि) वेदीपर मुनि-साधु-मण्डली और श्रीसीताजीके सहित श्रीरघुनाथजी विराजमान हैं॥६॥ वल्कल वस्त्र (पहने), जटा धारण किये हुए, श्याम शरीर है। मानो रति और कामदेव ही मुनिवेष बनाये हुए (बैठे) हैं॥७॥ (श्रीरामजी) करकमलोंसे धनुष-बाण फेर रहे हैं, (जिसकी ओर एक बार भी) हँसकर देखते हैं उसके जीकी जलनको हर लेते हैं॥८॥ सुन्दर मुनिमण्डलीके बीचमें श्रीसीताजी और रघुकुलचन्द्र ऐसे सुशोभित हो रहे हैं मानो ज्ञानसभाके बीचमें शरीर धारण किये हुए भक्ति और सच्चिदानन्द विराजमान हैं॥२३९॥

नोट—१ पूर्व कहा था—*'देखे भरत'* वही क्रिया यहाँ चली जा रही है। *'मुनि साधु'* दो शब्द देनेसे मुनिसे शास्त्रादिके मननकर्ता और साधुसे साधुस्वभाव सज्जन सूचित किये। आगे दोहेमें केवल *'मंजु मुनि मंडली'* कहा है और पूर्व भी केवल 'मुनि' शब्द आया है—*'जहाँ बैठि मुनिगन सहित नित सियराम सुजान। सुनहिं कथा……॥'* (२३७) अतः यहाँ भी वैसा ही समझना चाहिये।

नोट—२ *'रघुराजू'* शब्द देकर जनाते हैं कि भरतजी श्रीरामजीको उसी भावसे देख रहे हैं। उनके चित्तमें शोक हो रहा है कि जो श्रीराम सागरपर्यन्त समस्त पृथ्वीके स्वामी हैं वे मेरे कारण वल्कल वस्त्र और जटाएँ धारण किये हुए हैं। जो राजसभामें राजकर्मचारियों और प्रजाके द्वारा उपासना करनेयोग्य हैं वे वनवासियों तथा जङ्गली पशुओंद्वारा उपासित हो रहे हैं। जो उत्तम-उत्तम वस्त्र धारण करते थे वे वल्कल धारण किये हैं। जो सुन्दर पुष्पमालाएँ धारण करते थे वे आज जटाओंका भार सिरपर ढो रहे हैं। जो सिंहासनपर राजते थे वे वेदिकापर कुशोंपर बैठे हैं।—**'पृथिव्याः सागरान्ताया भर्तारं धर्मचारिणम्।'** (२७) **यः संसदि प्रकृतिभिर्भवेद्युक्त उपासितुम्। वन्यैर्मृगैरुपासीनः सोऽयमास्ते ममाग्रजः॥'** (२१) **वासोभिर्बहुसाहस्रैर्यो महात्मा पुरोचितः।……'** इत्यादि। जो वाल्मी० (२। ९९) में कहा है वह सब *'बेदी पर''रघुराजू। बलकल बसन जटिल'* से यहाँ सूचित कर दिया है।

नोट—३ *'बलकल बसन जटिल तनु स्यामा'*—अ० रा० में इसकी जोड़में '**दूर्वादलश्यामलमायतेक्षणं जटाकिरीटं नववल्कलाम्बरम्॥'** (२। ९। ५) है।

नोट—४ *'जनु मुनि बेष कीन्ह रति कामा'* इति। यहाँ जनाते हैं कि श्रीसीताजी भी मुनिवेष—तपस्विनी वेषमें हैं, यही आगे भी चलकर स्पष्ट किया है—*'तापस बेष जानकी देखी।'* (२८६। २)', *'तापस बेष जनक सिय देखी। भयउ पेमु परितोष बिसेषी॥'* (२८७। १) काम श्यामवर्ण वैसे ही रामजी, रति और जानकीजी गौरवर्ण। (ख)—*'रति काम'* का दृष्टान्त देकर शृङ्गाररूप सूचित किया। मुनियोंके मनको काम मोहित न कर सका मानो उसने सोचा कि रतिसहित हम मुनिवेष धरें तभी ये मोहित होंगे, इससे मानो

मुनि बनकर मुनियोंका मन हरण करने आया है। (ग)—पाँड़ेजी कहते है कि गुसाईंजी श्रीराम-जानकीका वर्णन एक स्थानमें प्रकट और एकमें गुप्त कहते हैं—*'सीय सहित राजत रघुराजू।'* में प्रकट है। पर *'बलकल बसन जटिल तनु स्यामा'* में रामजीका वर्णन प्रकट है, जानकीजीका वर्णन यहाँ भी है पर गुप्त है, इस तरह कि 'ल' और 'र' की सवर्ण संज्ञा है; 'ल' का 'र' और 'र' का 'ल' कर लिया जाता है। इस ढंगसे 'बलकल' को 'बर' कल मानकर सीता-पक्षका अर्थ करेंगे। अर्थात् श्रेष्ठ सुन्दर वसन धारण किये हैं। 'जटिल' अर्थात् बड़े-बड़े केश छूटे हुए। 'श्यामा' अर्थात् षोडश वर्षकी अवस्था है इसी प्रकार *'कर कमलनि'''* में गुप्तार्थ है कि हाथोमें कमलोंको घुमा रही हैं जैसे श्याम धनुषबाण घुमा रहे हैं।'

इस प्रकारसे गुप्तार्थ निकालनेका कारण यह है कि *'बलकल बसन जटिल तनु स्यामा'* में उपमेय एक ही है और उत्प्रेक्षामें उपमान रति और काम दो हैं।

नोट—५ मेरी समझमें ***'बलकल'*** के बदलनेकी आवश्यकता नहीं; इस ग्रन्थके मतसे चित्रकूटमें तपस्वी वेष अवश्य रहा, श्यामा यह श्लिष्ट पद है, दोनोंमें घटित होता है।

☞विनायकी टीकाके देखनेसे जान पड़ता है कि उन्होंने मु० रोशनलालकृत टीकाके प्रायः सभी भाव लिये हैं। यद्यपि उनका नाम कहीं नहीं है और टीका भी अब उपलब्ध नहीं है।

नोट—६ *'कर कमलनि धनु सायकु'''* इति। (क) इसीको गी० २। ६९ में *'करनि धुनत धनु तीर'* इस तरह कहा है। (ख) *'जियकी जरनि हरत हँसि हेरत'* इति। अ० रा० में श्रीसीताजीकी ओर निहारना कहा है। यथा—**'विलोकयन्तं जनकात्मजां शुभाम्।'** (२। ९। ६) इसके अनुसार भाव यह होगा कि जिस तरह वे श्रीजानकीजीकी ओर निहार रहे हैं, वह हँसकर निहारना भक्तोंके जीकी जलनको हर लेता है। दूसरा साधारण अर्थ तो स्पष्ट ही है कि जिसकी ओर वे हँसकर दृष्टिपात करते हैं उसके हृदयका संताप मिट जाता है। यहाँ यह कहकर जनाया कि प्रभुका हँसकर निहारना देखकर श्रीभरतजीके हृदयकी जलन मिट गयी। (ग) भरतजीने जो कहा था कि *'देखे बिनु रघुनाथ पद जिय कै जरनि न जाइ॥'* (१८२) वह यहाँ चरितार्थ हुआ। एक और मजेदार अर्थ यों कर सकते हैं—'जी की जलनको हँसकर हेरते हैं' कि देखें कहाँ है और हेरते ही उसको हर लेते हैं।

मिलान कीजिये—*'बिलोके दूर ते दोउ बीर। उर आयत आजानु सुभग भुज स्यामल गौर सरीर॥ सीस जटा सरसीरुह लोचन बने परिधन मुनिचीर। निकट निषंग संग सिय सोभित करनि धुनत धनु तीर॥ मन अगहुँड़ तनु पुलक सिथिल भयो नलिन नयन भरे नीर। गड़त गोड़ मानहुँ सकुच पंक महँ कढ़त प्रेम बल धीर॥ तुलसिदास दसा देखि भरतकी उठि धाए अतिहि अधीर। लिये उठाइ उर लाइ कृपानिधि बिरह जनित हरि पीर॥'* (गी० २। ६९। १—४)

पु० रा० कु०—*'लसत मंजु मुनिमंडली'''* इति। (क) मुनिमंडली ज्ञानसभा है, मानो ज्ञानने बहुत-से शरीर धारण किये हैं। वहाँ मुनि बहुत हैं इससे बहुत शरीर धरना पड़े। भक्ति जानकीजी, राम सच्चिदानन्द हैं। अथवा, तीनों शरीर धारण करके बैठे हैं, जो सर्वदेशी थे वे एक देशमें (वेदीपर) आ विराजे, जो निराकार हैं वही देह धरकर बैठे हैं।

नोट—७ यहाँ मुनि-समाजके बीचमें राम-जानकीजीकी शोभा उत्प्रेक्षाका विषय है। पर बाबा हरिहरप्रसादजीका मत है कि 'यहाँ मुनिमण्डलीमात्रमें उत्प्रेक्षा समझनी चाहिये। मुनिमण्डली नहीं है मानो ज्ञानकी सभा है। उनके मध्यमें शरीर धरे सिय रघुचन्द भक्ति सच्चिदानन्दरूपसे शोभित हैं—ऐसा अर्थ है।' ज्ञान, भक्ति, सच्चिदानन्द स्वरूपाकार नहीं होते, यह केवल कल्पनामात्र है।

सानुज सखा समेत मगन मन। बिसरे हरष सोक सुख दुख गन॥ १॥
पाहि नाथ कहि पाहि गोसाईं। भूतल परे लकुट की नाईं॥ २॥
बचन सपेम लषन पहिचाने। करत प्रनाम भरत जिय जाने॥ ३॥

बंधु सनेह सरस एहिं ओरा। इत* साहिब सेवा बर† जोरा॥ ४॥
मिलि न जाइ नहिं गुदरत बनई। सुकबि लषन मन की गति भनई॥ ५॥
रहे राखि सेवा पर भारू। चढ़ी चंग जनु खैंच खेलारू॥ ६॥

शब्दार्थ—**लकुट**=पतली लाठी, छड़ी। **सरस**=रसीला, सुन्दर, भीगा हुआ।=बढ़ा हुआ (सरसनासे)। बरजोर=प्रबल, जबरदस्त। **गुदरना**=अलग होना, त्याग करना।=निवेदन करना, हाल कहना; यथा—*'चीन्हों चोर जिय मारिहैं प्रभु सों कहि गुदरि निबरयो हौं'*; अलग रहना, छोड़ना। **भनई**=[सं० भण=कहना] कहता है। **चंग**=पतंग गुड्डी, कनकौवा।

अर्थ—छोटे भाई श्रीशत्रुघ्न और सखासहित भरतजी मनमें मग्न हैं, हर्षशोक और सुख-दुःख समूह सब भूल गया॥ १॥ *'पाहि नाथ! पाहि गोसाईं!'* (अर्थात् हे नाथ! रक्षा कीजिये, हे गुसाईं! रक्षा कीजिये) ऐसा कहकर पृथ्वीपर लकुटकी तरह गिर पड़े॥ २॥ (यह घटना लक्ष्मणजीके पीठके पीछे हो रही है, इसलिये) प्रेममय वचनोंसे लक्ष्मणजीने पहिचान लिया और जीमें जान लिया कि भरतजी प्रणाम कर रहे हैं॥ ३॥ इस तरफ (इधर) तो भाईका सरस प्रेम अधिक और इधर स्वामीकी सेवा प्रबल॥ ४॥ न तो जाकर मिला ही जाय और न छोड़ते ही (उपेक्षा करते) बने। सुकवि लक्ष्मणजीके मनकी दशा यों कहते हैं॥ ५॥ वे सेवापर भार रखकर रह गये, मानो चढ़ी हुई पतंगको खिलाड़ी खींच रहा हो॥ ६॥

नोट—१ *'बिसरे हरष सोक सुख दुख गन'* इति।—'गण' पद देकर अनेक हर्ष, अनेक शोक, अनेक सुख और अनेक दुःख सूचित किये। ये सब-के-सब विस्मरण हो गये। यह तुरीयावस्था है। रामशैलके दर्शनपर, राम-आश्रम प्रवेशपर, चरण चिह्न देखनेपर इत्यादि अनेक हर्ष और सुख (क्योंकि हर्षसे सुख होता है) हैं और पितामरण, मातुकुटिलाई, रामवनगमन इत्यादि शोक और शोकजनित दुःख मिटे। (पं० रा० कु०) बैजनाथजी लिखते हैं कि 'वियोगके कारण करुणरस था। इस रसका स्थायी भाव शोक है। शोकसे शंका, दीनता, चिन्ता, स्मृति, लज्जा और विषादादि दुःख उत्पन्न हुए। ये सब भूल गये। पुनः रामस्नेह दृढ़ होनेसे त्यागवीरता आ गयी। इसका स्थायी भाव उत्साह है। उत्साहसे निर्वेद, चपलता, सुमिरण, धृति, हर्ष, सुख हुआ। प्रभुके दर्शनसे करुणरस जाता रहा इससे विषादादि दुःखगण शान्त हुए। प्रभुका मुनिवेष देख सुखगण हर्षादि भाव शान्त हुए। यद्यपि पूर्व रस रहे परंतु शान्त भाव सबल है इससे उसीकी प्रधानता हुई।'

पु० रा० कु०—*'भूतल परे लकुट की नाईं'* इति। (क) आजकल 'दण्डवत्' साधारण 'प्रणाम' का पर्याय-सा हो गया है, अर्थात् मुँहसे 'दण्डवत्' कह देना ही बस काफी समझने लगे हैं। कहनेहीसे वे समझते हैं कि दण्डाकार पड़कर दण्डवत्-प्रणाम पूरा हो चुका। इसीसे *'लकुट की नाईं'* लिखकर कविने दण्डवत्-प्रणामकी क्रिया दिखायी है। (ख) मनुजीकी दण्डवत् और इनकी दण्डवत्का मिलान कीजिये। वहाँ *'परे दंड इव'* और यहाँ *'लकुट की नाईं'* कहा। दण्डा मोटा और लकुटी पतली होती है। मनुजीने जब दण्डवत् की तब उनके तन हृष्ट-पुष्ट, मोटे-ताजे थे। यथा—*'हृष्ट पुष्ट तन भये सुहाए। मानहुँ अबहि भवन ते आए॥'* (१। १४५) यह दशा आकाशकी ब्रह्मवाणी सुननेपर हो गयी थी। दर्शन पीछे हुआ। अतः यहाँ कहा था कि *'परे दंड इव गहि पद पानी।'* (१४८। ७) श्रीभरतजी श्रीरामविरहसे व्याकुल हैं, कठिन नियम व्रत कर रहे हैं इससे उनका शरीर सूख गया है। यथा—*'राम बिरह ब्याकुल भरत सानुज सहित समाज।'* (२१३), *'सकल सोक कृस।'* (१८८। ६) और लोग तो कुछ आहार करते भी हैं पर इनको तो *'भूख न बासर नींद न राती।'* (२१२। १) इनका हृदय निरन्तर संतप्त रहता है। ये *'कृस तन राम बियोग'* हैं। अतः इनको *'लकुटी'* की उपमा दी। १। १४८ (७) भी देखिये। (ग) शृङ्गवेरपुरमें श्रीसीतारामजीका विश्रामस्थल देखकर *'अति सनेह सादर भरत कीन्हेउ दंड प्रनाम॥'* (१९८) वहाँ 'दण्डवत्-

* 'उत'—रा० प्र०। 'इत'—राजापुर, पु० रा० कु०, भा० दा०।
† 'बस जोरा'—(ला० सीताराम)। यह पाठ है तो 'अधिकबस' या 'भरपूर जोर' अर्थ होगा।

प्रणाम' से साष्टाङ्ग दण्डवत्-प्रणाम अभिप्रेत है। इससे स्पष्ट है कि ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते गये त्यों-त्यों आकुलता बढ़ती गयी। उस समय श्रीसीताराम-स्मारक चिह्न प्रथम-प्रथम देखे थे। साष्टाङ्ग दण्डवत्-प्रणाम करनेसे उस समय उनकी सावधानता प्रकट होती है और इस समय जटिल मुनिवेष देख आकुलता अत्यन्त बढ़ गयी, वे अपनेको सँभाल न सके, *'पाहि नाथ! पाहि गोसाईं!'* इतना कहते-कहते पतली छड़ीकी तरह गिर पड़े। इस प्रसङ्गमें वाल्मीकिजी लिखते हैं कि श्रीसीतारामजीको इस अवस्थामें देखकर भरतजी शोक और मोहसे व्याकुल हो गये और टूटी आवाजसे विलाप करने लगे, दुःखको रोक न सके, उनका मुँह पसीनेसे भर आया, वे श्रीरामजीकी ओर दौड़े, पर उनके पैर न पा सके, रोते-रोते पृथ्वीपर गिर पड़े—**'अभ्यधावत धर्मात्मा भरतः केकयीसुतः॥'** ······**इत्येवं विलपन्दीनः प्रस्विन्नमुखपंकजः॥ पादावप्राप्य रामस्य पपात भरतो रुदन्।'** (वाल्मी० २। ९९। २९, ३७)। ये सब भाव इस अर्धालीसे सूचित कर दिये गये हैं। दोहा १९८ में दण्डेके समान पड़ना नहीं है, किंतु दण्डवत् प्रणाम करना कहा गया था। यदि 'दण्डेके समान' अर्थ लें तो यह भी भाव निकलेगा कि शृङ्गवेरपुरसे यहाँतक पैदल नंगे पैर, घोर घामादि सहते हुए और विशेष विरहके नित्यप्रति अधिक होनेसे वे लकुटकी तरह कृश हो गये। (घ) दण्ड और लकुट दोनोंसे निराधार जनाया। जैसे लकड़ीको अकेली खड़ी करो तो वह गिर पड़े, वैसे ही ये निराधार गिरे।

नोट—२ *'पाहि नाथ कहि पाहि गोसाईं'* इति। (क) *'नाथ'* का भाव कि आज हम सनाथ हुए, हमारी अनाथता आज गयी—(रा० प्र०)। पुनः आप नाथ हैं मैं सेवक हूँ, सेवककी रक्षा स्वामीका कर्त्तव्य है, अतएव सेवककी रक्षाके विचारसे *'नाथ'* सम्बोधन किया—(पां० ख०)—*'गोसाईं'* अर्थात् आप इन्द्रियोंके स्वामी हैं, उनकी गति जानते हैं, मैं आपके परतन्त्र हूँ, मेरी रक्षा कीजिये—(रा० प्र०, पां०)।

नोट—३ *'जिय जाने'* से ज्ञात होता है कि उनको अभी देखा नहीं है उधर पीठ थी ऐसा अनुमान होता है। अथवा वृक्षकी ओटमें भरतजी हैं।

नोट—४ *'बंधु सनेह सरस एहिं ओरा। इत'''*। इति। यहाँ भी *'एहिं ओरा'* और *'इत'* का प्रयोग वैसे ही है जैसे *'इत पितु बच इत बंधु सँकोचू'* में था। दूसरा पल्ला अधिक ही है, कम नहीं—२२७ (३) देखिये, बिछुड़े हुएमें स्नेह अधिक हो ही जाता है, दूसरे ये भरतजीको बुरा-भला भी कह चुके थे, उसकी ग्लानिके कारण भी स्नेह अधिक हो गया होगा। इधर प्रभुकी सेवा भी जबरदस्त है। सेवा छोड़कर चल देना बिना आज्ञाके, यह सेवाधर्मके विरुद्ध है।

बैजनाथजीका मत है कि *'बंधु सनेह सरस'''* का भाव यह है कि भरतजीसे जाकर मिलनेसे *'सनेह रस'* रहता है और मिलने न जानेसे स्नेह नीरस हुआ जाता है अर्थात् बड़े भाईको देखकर उससे मिलकर उसे प्रणाम करना चाहिये यह धर्म है, न मिलनेसे प्रसिद्ध होगा कि लक्ष्मणजी भरतजीसे विमुख हैं इसीसे उन्होंने बड़े भाईको जाकर प्रणाम नहीं किया। *'इत साहिब सेवा बरजोरा'* अर्थात् सेवकका धर्म है कि स्वामीकी सेवा मन, कर्म, वचनसे करे।

'इत साहिब सेवा बरजोरा'

क्या सेवा है जिसके कारण *'मिलि न जाइ नहिं गुदरत बनई'*?

(खर्रा)—साहिबकी सेवा बरजोर यह है कि *'आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा।'* बिना स्वामीकी आज्ञाके मिल नहीं सकते—*'मिलि न जाइ नहिं गुदरत बनई।'* गुदरत (=कहते) नहीं बनता। अर्थात् श्रीरामजीसे यह कहते नहीं बनता कि भरतजी आये हैं क्योंकि कहनेसे विलम्ब होगा और भरतजीसे तुरंत भेंट करना चाहते हैं, कहने और आज्ञा लेनेका विलम्ब भी नहीं सह सकते। मनकी जब यह दशा हुई तब सेवा-धर्मपर बोझ रखकर अर्थात् इसका गौरव अधिक मानकर, इसका पल्ला भारी समझकर रह गये, मिलने न गये। यही उचित समझा कि स्वामीसे कहेंगे जब उनकी आज्ञा हो तब मिलेंगे, पहले नहीं।—*'यह छर भारु ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहौं।'*—(विनय०)

वै०—इधर 'स्वामीकी सेवा उत्तम सबल है; क्योंकि यह उचित है कि यदि किसीको आते देखे तो तुरत स्वामीके पास जाकर उसकी सूचना दे दे।'

पाँड़ेजी—इधर भरतका स्नेह चित्तको खींचता है, उधर जो रघुनाथजीने पूछा था उसके उत्तर देनेमें उनकी सेवा खींचती है। इससे न उनसे मिल सके न उत्तर देते बने; तब सेवाको अधिक मानकर उधरसे स्नेहको खींचा (पूर्व पक्षवाले उत्तरमें कहते हैं कि 'परंतु यहाँ शङ्का होती है कि फिर उत्तर देनेकी या सुननेकी जो सेवा करते थे वह कहाँ की, वे तो भरतका आगमन कहने लगे? इससे सेवा वही जान पड़ती है कि स्वामीकी आज्ञा बिना उनको छोड़कर जाना धर्म-विरुद्ध है)।

३—रा० प्र० का मत है कि वचनका सुनना सेवा है। इससे जान पड़ता है कि *'पूछें बचन कहत अनुरागे'* का अर्थ वे यह लेते हैं कि लक्ष्मणजीने कुछ पूछा उसका उत्तर रामजी दे रहे हैं। श्रीरामजी कहनेमें लगे हैं इससे उन्होंने न सुना और ये श्रोता हैं। पुन: इनकी वृत्ति उधर इससे भी है कि हृदयमें ग्लानि है (इसमें भी वही शङ्का होती है जो ऊपर लिखी गयी है)।

४—शिला—एक ओर भरत-स्नेह, एक ओर राम-सेवा, न चलकर मिलते बने न खड़े रहते बने, सेवापर भार धरकर खड़े रहे। जैसे पतंग जब बहुत चढ़ जाती है तब यत्नपूर्वक खेलाड़ी लोग खींच लेते हैं, नहीं तो टूट जाय। यत्नसे खींचना, सेवापर भार धरकर खड़े रहना है।

गौड़जी—पतंग चढ़ी हुई है। बिना उसे खींचकर उतारे खिलाड़ी उसे छोड़कर और काम कर ही नहीं सकता। लक्ष्मणजी प्रभुकी सेवामें हैं। बीचमें छोड़ कैसे सकते हैं। इसलिये न तो आप सेवा छोड़ मिल सकते हैं और न उपेक्षा करते बनता है। सेवा यह है कि पूछी बातोंका अदबसे अनुरागसे उत्तर दे रहे हैं। यही चढ़ी हुई चंग है। इसे ही खींचकर उतारते हैं। अर्थात् तुरंत अपनी बात खतम करके प्रेमपूर्वक सिर धरतीसे लगाकर कहते हैं, नाथ! भरतजी प्रणाम कर रहे हैं।

मा० हं०—इन चौपाइयोंका भाव बड़ा ही हृदयग्राही है। कुछ देरतक भरतजी जमीनपर वैसे ही पड़े रहे, तो भी श्रीरामजीने जरा भी 'हूँ या हाँ' न किया। मानो उन्होंने भरतजीके *'पाहि नाथ, पाहि गुसाईं।'* इस आकुलित पुकारको सुना ही नहीं। इस समय वे केवल लक्ष्मणजीकी स्थिति लक्षपूर्वक देख रहे थे। लक्ष्मणजीको रामजीकी मर्यादाने जकड़ लिया था। परंतु अन्तमें उनसे न रहा गया, और थोड़ी देर बाद ही रामजीको उन्होंने प्रणाम कर धरतीपर पड़े हुए भरतजीको दिखलाया। इस तरह यह प्रसङ्ग भरत-भेंटका पूर्व रंग कहना चाहिये। इसके पश्चात् भरतजीसे मिलनेके लिये रामजीकी व्याकुलता देखने योग्य है।

यहाँपर यह प्रश्न होता है कि रामजीने उस समय भरतजीपर इतनी निष्ठुरता क्यों दिखायी।

हमारे मतसे वह भरत-सम्बन्धी निष्ठुरता नहीं थी। लक्ष्मणजीकी विकारवशतासे निकले हुए पूर्व शब्दोंको उन्हीं-(लक्ष्मणजी-) के मत्थे मढ़ना था। इसलिये उन्होंने यह सब नाटक किया। भरतजीके सम्बन्धकी उनकी कटूक्तियोंकी सचाई या झूठापन आजमानेके लिये उन्होंने लक्ष्मणजीको वह समय दिया। अन्तमें जिस समय वे पश्चात्तापसे हड़बड़ाकर श्रीरामजीके सामने *'कहत सप्रेम नाइ महि माथा'* गिर पड़े, और अत्यन्त दीनतासे प्रार्थना करने लगे कि *'भरत प्रनाम करत रघुनाथा'* उस समय *'उठे राम सुनि प्रेम अधीरा। कहुँ पट कहुँ निषंग धनुतीरा॥'* यानी प्रेमसे बिलकुल ही अधीर हो जानेके कारण, कहीं वस्त्र, कहीं धनुष और कहीं बाण छोड़ते-छोड़ते रामजी बड़े ही सम्भ्रमसे पहुँच और भरतजीको उठाकर मिले। स्वामीजीका भावनिरीक्षण और शिक्षाकी पद्धति जो अवर्णनीय कहलाती है उसीका यह वर्णन एक महत्त्वपूर्ण और माननीय उदाहरण है।

शिला—'प्रभु अन्तर्यामी हैं, पहले क्यों न उठे? क्योंकि पहले लक्ष्मणजीने बहुत क्रोध किया है। यदि इनके कहे बिना मिलें तो परस्पर विरोध लगेगा क्योंकि रामजीके ही लिये तो उन्होंने भरतजीके प्रति क्रोधयुक्त वचन कहे हैं। अतएव उनसे कहलाकर तब मिले।

गौड़जी—यह समझना कि भरतजी देरतक दण्डकी नाईं पड़े रहे, बड़ी भूल है। लक्ष्मणजी सरकारकी

दृष्टि रोके सामने खड़े कुछ कह रहे हैं। तिलकी ओट पहाड़ छिप जाता है। भरतजीका आकार दण्डवत् पड़ जाना दीख नहीं सकता था। वह साष्टाङ्ग पड़ते हुए *'पाहि'* बोले और *'गोसाईं'* कहते साष्टाङ्गकी क्रिया पूर्ण हुई। मनसा, वचसा, कर्मणा दण्डवत् की जाती है। 'पाहि' सुनते ही लक्ष्मणजीके मनमें वह सब विचार उदित हुए। वह लकुटकी नाईं गिरे ही थे कि लक्ष्मणजीने भी दण्डवत् करते ही कहा 'नाथ! भरतजी प्रणाम कर रहे हैं। यह कहना 'गोसाईं' शब्दके बाद ही हुआ। श्रीरघुनाथजीने 'पाहि नाथ' सुना तभी प्रेमसे अधीर हो उठे। इतनेमें लक्ष्मणजीके झुकनेसे भरतजीका साष्टाङ्ग देख पड़ा। *'उठे राम सुनि प्रेम अधीरा।'* 'सुनि', क्या सुनकर? *'पाहि''''गोसाईं'* सुनकर। लक्ष्मणजीकी बात तो उठते हुए सुनी। सुकवि लक्ष्मणजीके मनकी बात वर्णन करते हुए स्वयं सशंक है कि कहीं कोई भगवान्‌के उठनेमें देर न समझ बैठे; इसीलिये सुनते ही भगवान्‌को अधीर हो उठना बताते हैं। धनुसायक फेरते थे सो फेंकते हुए उठे। कहीं कुछ गिरा, कहीं कुछ। श्रीरघुनाथजी अन्तर्यामी हैं। सब जानते हैं। परंतु यहाँ तो नरलीला है। अल्पज्ञताका पुरुषोत्तमताके साथ कितना अच्छा अभिनय है। देर समझनेकी भूलके साथ ही अनेक निरर्थक कल्पनाएँ उठती हैं। कवि तो 'मनकी गति' कहनेमें देर लगाता है। परंतु वह इसे कबूल भी कर लेता है। यह ध्वनित है कि 'मनकी गति' थी अर्थात् अत्यन्त जवीयस अत्यन्त वेगवान्‌की गति कहता है। लक्ष्मणजीने सोचते ही माथा नवाकर कहा। फिर लक्ष्मणजी जैसे जल्दबाजके सोचनेमें भी देर लगती है! गजकी पुकारपर अधीर हो दौड़नेवाले भगवान् भरतके 'पाहि' पर किसीका मुँह ताकते रहेंगे?

प० प० प्र० स्वामीका भी यही मत है—*'करत प्रनाम भरत जिय जाने'* और *'भरत प्रनाम करत रघुनाथा'* से सिद्ध होता है कि वे प्रणाम करते ही थे इतनेमें ही लक्ष्मणजीने कहा। देरतक पड़े रहना और श्रीरघुनाथजीकी निष्ठुरता आदि कुकल्पनाएँ ही ठहरती हैं। प्रणामकी क्रिया पूरी नहीं हो पायी इतनेमें ही लक्ष्मणजीने कहा।

वि० त्रि०—सरकार अब लक्ष्मणजीसे भरतलालके विषयमें प्रश्न कर रहे हैं कि तुमने तो पेड़पर चढ़कर देखा है, भरतजी कितनी दूरपर हैं, इत्यादि। लक्ष्मणजी अनुरागसे उत्तर दे रहे हैं कि इसी बीचमें *'पाहि नाथ, पाहि गोसाईं'* शब्द हुआ, सब लोग साकांक्ष हुए कि कौन बोल रहा है। सघन वन ओट होनेसे किसीको दिखायी नहीं पड़ रहा है, लक्ष्मणजीने स्वरसे पहिचान लिया कि भरतजी प्रणाम करते हैं, उस समय लक्ष्मणजीके मनकी गति कहनेमें कविने तीन अर्धालियाँ लिख डालीं, पर यह सब मिनटोंमें (सेकेण्डोंमें) हुआ। लक्ष्मणजीने तुरंत प्रणाम करके कहा कि भरतलाल प्रणाम कर रहे हैं। यहाँ लक्ष्मणजीके प्रणाम करनेका भाव ही यह है कि जो बात कह रहे थे उसे वहीं समाप्त किया, कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं, भरतलाल आ गये, प्रणाम कर रहे हैं।

'चढ़ी चंग जनु खैंच खेलारू'

पु० रा० कु०—खेलाड़ी खींचता है जिसमें डोर न टूटे, वैसे ही ये भरतके स्नेहको सँभालते हैं कि वह भी न टूटे और स्वामीकी सेवा भी रहे। दोनोंको रखनेके लिये *'कहत सप्रेम नाइ महि माथा। भरत प्रनाम करत रघुनाथा॥'*

गौड़जी—स्थिति यह है कि सरकारका दरबार है जिसमें ठीक प्रभुके सामने लक्ष्मणजी खड़े किसी पूछी बातका उत्तर अदबके साथ निवेदन कर रहे हैं। ठीक इसी क्षण भरतजी दण्डवत् करते हैं। सरकारका सामना लक्ष्मणजीके कारण रुका हुआ है। लक्ष्मणजीकी बात सरकार सुन रहे हैं। लक्ष्मणजी अदबके मारे न तो पीठ फेरकर देख सकते हैं, न बिना उत्तर पूरा किये हुए बीचमें और कुछ कर सकते हैं। न मिल सकते हैं न उपेक्षा ही कर सकते। *'पाहि नाथ' 'पाहि गोसाईं'* शब्द सुनकर समझ जाते हैं कि भरतजी प्रणाम कर रहे हैं। अब सरकारकी दृष्टिके सामने रुकावट होकर खड़े रहना, भगवत् और भागवतके बीचका व्यवधान होना यह स्वयं परमाचार्य रामानुजसे कैसे सहन होगा? पूछी बातका उत्तर पूरा करते-करते झट खतम कर देना चढ़ी चंगको खींच लेना है। सप्रेम धरतीसे माथा छुआकर बात झट खतम

कर देनेकी बेअदबीके लिये और सरकारी दृष्टिमें बाधक होनेके लिये क्षमा भी माँग लेते हैं और साथ ही निवेदन भी कर लेते हैं कि नाथ! भरतजी प्रणाम कर रहे हैं। इनके झुकते ही सरकार भरतजीको पड़ा हुआ भी देखते हैं। *'पाहि'* सुनकर तो अधीर होकर उठ ही रहे हैं।

श्रीनंगे परमहंसजी—यहाँ लक्ष्मणजीको चंगके खिलाड़ीकी समता देकर सूचित किया कि लक्ष्मणजीका मन चंग है, हृदय आकाश है। भ्रातृस्नेह पवन है, रामसेवा डोर है। पतंग उड़ानेवालेके हाथमें डोर जरा-सी ढीली हुई नहीं कि पवन चंगको आकाशमें ऊपरकी ओर खींच ले जाता है, वैसे ही लक्ष्मणजी डोररूप सेवासे जरा ढीला पड़े तो पवनरूप भ्रातृस्नेहने पतंगरूप मनको आकाशरूपी अन्तःकरणमें चढ़ाया और दूर उड़ा ले गया। जब खेलाड़ी देखता है कि चंगको पवन आकाशमें दूर चढ़ा ले गया है तब उसको शीघ्र उतार लेता है, कारण कि चंग या डोरीके टूट जानेका भय है। अतः चंगको डोरसे खींच लेता है। खींचते समय पवन चंगको रोकता है इसलिये जरा-सा रुकना पड़ता है और विशेष डोरीसे खींचना होता है। वह खेलाड़ी चंगको खींचकर पूर्व स्थानपर रख देता है। उसी तरह श्रीलक्ष्मणजीने जब देखा कि पवनरूप भ्रातृस्नेह चंगरूप मनको आकाशरूप अन्तःकरणमें दूर ले गया, तब उन्होंने चंगरूप मनको खींचना शुरू किया पर पवनरूप भ्रातृस्नेह चंगरूप मनको रोक देता था, इसलिये जरा-सा रुक-रुकके मनको खींचकर सेवा-स्थानपर रखके शीघ्र जाकर श्रीरामजीको प्रणामकर सूचना देते हैं कि श्रीभरतलाल प्रणाम कर रहे हैं। उस समय लक्ष्मणजी खड़े हुए पहरा दे रहे थे।

वै०—श्रीलक्ष्मणजी तो सेवामें पूर्वसे ही खड़े हैं और श्रीभरतजी भी प्रणामरूपी स्वामिसेवामें तत्पर हैं। इस समय उनसे मिलने जानेसे अपनी और उनकी दोनोंकी सेवा भङ्ग होती है और हाल कहने जायँ तो बन्धुस्नेह नीरस होता है, अतः सेवापर भार रखकर खड़े ही रह गये। यह कैसा मनसूबा खेल गये उसकी उत्प्रेक्षा करते। यदि कोई व्यक्ति पतंग उड़ाते हुए उसे अधिक बढ़ा दे और उसी समय किसी दूसरेने पतंग उड़ाई और इसकी बढ़ी हुई पतंगके पेटेमें पेंच डाल दी तो इसकी पतंग सहजहीमें कट जायगी। अतः चतुर खेलाड़ी दूसरेको पतंग उड़ाते देख अपनी बढ़ी-चढ़ी पतंगको खींचकर पेंच लड़ाने योग्य मौताज-(स्थान-) पर रखता है। वैसे ही यहाँ लक्ष्मणजीकी सेवारूप चंग चढ़ी हुई है। भरतजीको प्रणाम करते जानकर अपनी सेवाको खींचकर उन्होंने मौताजपर रखा, अर्थात् सेवा-स्थलपर खड़े ही रहे। इससे बन्धु-स्नेह भी नीरस न हुआ, कारण कि जब भरतजी स्वामीको प्रणाम कर रहे हैं तब बिना स्वामीकी उनसे भेंट हुए बीचमें इनको मिलनेका अधिकार ही कहाँ है?

कोई-कोई कहते हैं कि 'यहाँ दो पतंग हैं—बन्धु-स्नेह और साहिब-सेवा। एक जो बहुत चढ़ी थी उसको ढील देकर, सह देकर काटा, जिसमें दूसरी उखड़ न जाय। सह देना चुप रहकर सावधान होना है। सावधान होनेपर तब बोले'। किसीने इस उत्प्रेक्षाको यों निबाहा है कि जब पतंग बहुत ऊपर चढ़ जाती है तो उसको एक बारगी खींचनेमें डोरेके टूटनेका भय बना रहता है। पतंगबाज सावधानीसे उसे उतारते हैं, बार-बार ढील देकर सँभालकर खींचना पड़ता है। वैसे ही यहाँ लक्ष्मणजी अपने मनको सँभालकर धीरे-धीरे क्रमशः भरतकी ओरसे खींचकर अपने काबूमें कर लाये। जब सावधान हुए, तब बोले। यहाँ लक्ष्मणजी खेलाड़ी हैं, मन पतंग है, भरतजीकी ओर स्नेहकी अधिकता हो जाना, जाकर मिलनेको मन करना, पतंगका आकाशमें बहुत चढ़ जाना है, उधरसे मनको हटाकर सेवापर आरूढ़ होना पतंगका खींचकर काबूमें कर लाना वा सँभालना है।

कहत सप्रेम नाइ महि माथा। भरत प्रनाम करत रघुनाथा॥ ७॥
उठे रामु सुनि पेम अधीरा। कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा॥ ८॥
दो०—बरबस लिए उठाइ उर लाये कृपानिधान।
भरत राम की मिलनि लखि बिसरे सबहि अपान॥ २४०॥

शब्दार्थ—**बरबस** (बलवश)=बलपूर्वक। **अपान**=अपनपौ, सुध, होशहवास, यथा—*'जनक समान अपान बिसारे'।*

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी पृथ्वीपर मस्तक नवाकर प्रेमसहित कहते हैं—हे रघुकुलके नाथ! भरतजी पृथ्वीमें माथा नवाये हुए प्रणाम कर रहे हैं॥७॥ सुनकर श्रीरामजी प्रेमसे अधीर होकर उठे, कहीं वस्त्र गिरा, कहीं तरकश, कहीं धनुष और कहीं बाण*॥८॥ उनको बलपूर्वक उठाकर दयासागर प्रभुने हृदयसे लगा लिया। भरत-राममिलाप देखकर सभीको अपनी सुध भूल गयी॥ २४०॥

नोट—१ *'कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा'*—बिहारी सतसईके निम्नलिखित दोहेसे मिलान कीजिये—*'कहा लड़ेते दृग करे पड़े लाल बेहाल। कहुँ मुरली कहुँ पीतपट कहूँ मुकुट बनमाल॥'* विनय० पद २०६ भी देखिये—*'नाहिंन और कोउ सरन लायक दूजो श्रीरघुपति सम बिपति निवारन।''सुमिरत सुलभ, दास दुख सुनि, हरि चलत तुरत, पटपीत सँभारन। साखि पुरान निगम आगम सब जानत द्रुपदसुता अरु बारन॥'* और गी० पद ६९ भी देखिये। वहाँ भी *'उठि धाए अतिहि अधीर'* और *'लिए उठाइ उर लाइ कृपानिधि बिरहजनित हरि पीर'* शब्द हैं। *'कृपानिधान'* का भाव वहाँ खोला है।

नोट—२ *'बरबस लिए उठाइ'*' इति। (क) अ० रा० में भी कहा है कि **'रामस्तमाकृष्य सुदीर्घबाहुर्दोर्भ्यां परिष्वज्य सिषिञ्च नेत्रजैः। जलैरथाङ्कोपरि संन्यवेशयत् पुनः पुनः संपरिषस्वजे विभुः॥'** (२। ९। ७) आजानुबाहु श्रीरामचन्द्रजीने अपनी दोनों बाहुओंसे उन्हें गोदमें बैठाकर अपने आँसुओंसे सींचते हुए बारंबार हृदयसे लगाया। (ख) *'बिसरा सबहि अपान'* इति। वहाँ मुनिसमाज मुख्य था, साथ ही और भी वनवासी लोग वहाँ थे, सबको देहसुध भूल गयी, सबके आँसू निकल आये, एकटक देखने लगे—**'वनौकसस्तेऽभिसमीक्ष्य सर्वे त्वश्रूण्यमुञ्चन्प्रविहाय हर्षम्।'** (वाल्मी० २। ९९। ४२), (गी० २। ७०) में जो दशा वनवासियों और मुनियोंकी उस समय हुई जब वे श्रीरघुनाथजीसे लौटनेकी प्रार्थना करनेको खड़े हुए थे, वह भी कुछ ऐसी ही है—*'(हृदय सोच)जलभरे बिलोचन नेह देह भइ मोरि। बनवासी पुरलोग महामुनि किये हैं काठकेसे कोरि॥'*

मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी । कबि कुल अगम करम मन बानी॥ १॥
परम पेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥ २॥
कहहु सुपेम प्रगट को करई। केहि छायाँ कबिमति अनुसरई॥ ३॥
कबिहिं अरथ आखर बलु साँचा। अनुहरि ताल गतिहि नटु नाचा॥ ४॥
अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मनु बिधि हरि हर को॥ ५॥
सो मैं कुमति कहउँ केहि भाँती। बाजु सुराग कि गाँडर ताँती॥ ६॥

शब्दार्थ—**सुपेम**=अतिशय प्रेम। 'गाँडर' (सं० गंडाली)। १—मूँजकी तरहकी एक घास जिसकी पत्तियाँ पतली और हाथ सवा हाथ लम्बी होती हैं। यह तराई, तालाबों, झीलों आदिमें प्रायः बहुत होती है। कुआरमें इससे सींकें निकलती हैं। इसकी जड़ खस (सं० उशीर) है। २—एक प्रकारकी दूब जिसमें बहुत गाँठें होती हैं और जो जमीनपर दूरतक फैलती है····। ३—'गाडर' (सं० गड्डुरी)=भेंड़, यथा—*'स्वामी होनो सहज है दुर्लभ होनो दास। गाडर लाये ऊन को लागी चरन कपास॥'*—(तुलसी) यहाँ पाठ 'गाँडर' है (वि० त्रि० यह अर्थ लेते हैं)। (श० सा०)। ताँत=भेड़ आदिके चमड़े-नस आदिकी बटी हुई डोरी=सारङ्ग आदिका तार, यथा—*'सेइ साधु गुरु मुनि पुरान श्रुति बूझ्यो राग बाजी ताँति।'*

अर्थ—श्रीराम-भरतके सम्मिलनकी प्रीति कैसे बखानी जाय? वह तो कविकुल-(कविसमुदाय-) के

---

* 'पट वेद है, निषंग कर्म, धनुष काल, तीर लवनिमेषादि। भक्तके लिये चारोंको छोड़ दिया'—खर्रा।

लिये कर्म-मन-वचन-(तीनों प्रकार-) से अगम्य है॥ १॥ दोनों भाई मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार-(चतुष्टय अन्तःकरण-) को भुलाकर परम प्रेमसे पूर्ण हैं॥ २॥ कहिये उस अतिशय प्रेमको कौन प्रकट करे? कविकी बुद्धि किस छायाका अनुसरण करे?॥ ३॥ कविको तो अर्थ और अक्षरका ही सच्चा बल है। नट तालकी गतिके ही अनुसार नाचता है॥ ४॥ भरतजी और रामजीका प्रेम अगम है, जहाँ ब्रह्मा-विष्णु-महेशका भी मन नहीं जा सकता*॥ ५॥ उस प्रेमको मैं दुर्बुद्धि किस प्रकार कहूँ? क्या गाँडरकी ताँतसे सुन्दर राग बज सकता है?॥ ६॥

नोट—१ *'किमि जाइ बखानी'* क्योंकि किसीको उस समय सुध-बुध ही न रह गयी। प्रेम ही परिपूर्ण समा गया, इससे वहाँ दूसरी वस्तुकी समायी ही न रह गयी। मन आदि अपने-अपने धर्म भूल गये। मन संकल्प-विकल्प, बुद्धि सत्-असत्-विचार, चित्त अनुसंधान (कि कभी ऐसा किया है सुध है) और अहंकार अहमिति भूल गये।

पु० रा० कु०—शंका—भरत इन-(मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार-) को भूल जायँ पर श्रीरामजी परब्रह्म हैं, वे कैसे भूल सकते हैं? समाधान—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'**। जैसे भक्त इनसे मिले उसी रीतिसे भगवान् भक्तसे मिलते हैं। भक्त-शिरोमणि अन्तःकरण-चतुष्टयको भुलाकर मिले, अतः उनके भावानुकूल प्रभु भी मिले।

वै०, रा० प्र०—अन्तःकरण-चतुष्टयसे परे स्फुरणमात्र (आत्माकी चेतनतामात्र) शेष रह गया जिससे सबमें चेतनता और प्रकाश होता है। दोनोंके शुद्ध आत्मतत्त्व समुद्रवत् मिल गये।

नोट—२ *'केहि छायाँ कबिमति अनुसरई'* इति। कहने-सुननेके चार मार्ग हैं—मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार। जब भोगनेवालोंको इन चारोंकी विस्मृति हो गयी तब कविकी मति किस राहसे प्रवेश करे। अथवा, जिसको सुख प्राप्त हो वह जब कुछ कहे तब कवि उपमान-उपमेय, उक्ति-युक्तिद्वारा रचना करे; पर जब मुखसे वचन ही न निकले तब किसीकी बुद्धि क्योंकर प्रवेश करे? अथवा, प्रेमका अन्वय छायाके साथ कर लें तो अर्थ होगा—किस कविकी ऐसी मति है जो उसके प्रेमकी छायामें अनुसरण करे। (रा० प्र०)

नोट—३ *'कबिहिं अरथ आखर बलु साँचा।…'* इति। (क) यहाँ लक्षणामूलक वाच्यविशेष व्यंग है। भाव कि अक्षरोंमें इतना अर्थबल नहीं है कि उस प्रेमको यथातथ्य प्रकट कर सकें (वीर)। (ख) ताल देनेवाला जैसी ताल देगा वैसा ही नट नाचेगा, वैसे ही जो शब्द कविको मिलेंगे उसीको लेकर वह कोई बात कह सकेगा, यदि उस दशाके वर्णनके शब्द ही न मिलें तो कवि क्या करे? (दीनजी) (ग) भाव यह कि कवि अपनी विद्यामें पक्का है इसमें कसर नहीं और नट नाचमें पक्का है, पर यदि एक अक्षर अर्थका बल और दूसरा तालकी गतिका बल न पावे तो वह क्या कर सके, उसका क्या कसूर? (पु० रा० कु०)

नोट—४ *'अगम सनेह भरत रघुबर को।…'* इति। भाव कि—(क) त्रिदेवके मनकी गुजर वहाँ नहीं, इससे इन दोनोंको एवं उनकी प्रीतिको त्रिगुणातीत जनाया। त्रिदेवका मन अपने-अपने गुण (रज, सत्त्व, तम) तक ही जा सकता है (पु० रा० कु०)। (ख) विधि, हरि, हर और मन (चन्द्र) ये ही चारों अन्तःकरणके देवता हैं। जब इनका ही मन वहाँ नहीं पहुँचता तब दूसरेकी पहुँच कहाँ, जो कह सके (पु० रा० कु०)। आशय यह है कि जिनके ये अधिष्ठातृ देवता हैं (बुद्धिके अधिष्ठातृ देवता विधि हैं, चित्तके हरि और अहंकारके हर हैं) जब उन्हींको पता नहीं है तब इनके मनकी पहुँच भरतजीके स्नेहतक कैसे हो सकती? (वि० त्रि०) (ग) *'बिधि हरि हर कबि कोबिद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी॥'*

---

* बाबा हरिदासजी और भी अर्थ करते हैं—'भरतका स्नेह अगम है, जहाँ रघुबरका भी मन नहीं जा सकता, बिधि-हरि-हर भला कौन हैं, किस गिनतीमें हैं'। पर यहाँ प्रसंग 'रघुबर' और 'बिधि-हरि-हर' का नहीं है, इन दोनोंके मिलानका अभिप्राय नहीं है।

तब साधुशिरोमणि भरत और उनके स्वामी रामजीके स्नेहतक कैसे पहुँच सके। (रा० प्र०) गौड़जीकी टिप्पणी आगे है।

पां०—यहाँ सन्देह करनेका काम नहीं कि 'हरि' और 'राम' एक हैं; भेद किसीमें नहीं है। पर इस उपासनाग्रन्थमें रघुनाथजीका अतिशय परत्वयोग कहा गया है—*'विष्णु कोटि सम पालन करता', 'उपजहिं जासु अंस ते नाना।····'* इत्यादि।

'बाजु सुराग कि गाँडर ताँती'

पु० रा० कु०—कवि अपनी मतिको मूँजकी डोरीसे उपमा देते हैं, जो राग निकलनेके पूर्व ही टूट जाय। भाव यह कि बढ़िया तार या ताँत लगे तो सुन्दर राग भी निकले, घासकी ताँतसे कहीं 'सुन्दर राग' निकल नहीं सकता। वैसे ही मुझसे वर्णन नहीं हो सकता।

पाँड़ेजी—'गाँडर'='गड़रियेकी ताँत जिससे ऊन धुनी जाती है'।

गौड़जी—मिलनेमें प्रीतिका गाम्भीर्य कितना था, प्रकार कैसा था कैसे कहा जाय। कर्मणा-वाचा-मनसा सभी तरहसे तो कविके लिये अगम है। प्रेमकी परमावधिसे दोनों भाई ऐसे परिपूर्ण हैं कि *'मन बुधि चित अहमिति'* चारों अन्तःकरणसे परे, अत्यन्त दूर हैं। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार बिसर गये हैं, और ऐसा तो होना ही था। '**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दो ब्रह्मणो विद्वान्॥**' (श्रुति) फिर उस प्रेमको कोई शब्दोंमें कैसे प्रकट करे; क्योंकि मन, बुद्धि, अहंकार और चित्तके ही विषय तो शब्दमें प्रकट किये जाते हैं। शब्दमें जो त्रिधा शक्ति है वह तो अन्तःकरणके अनुभवकी छायाके अनुसार है। जब अन्तःकरणको अनुभव ही नहीं तो किसकी छायाके बलपर कविकी मति वर्णन करनेका यत्न करे। कविके लिये अर्थ और शब्द इनके बलका ही साँचा काम देता है, परंतु उस प्रेमका तो चित्र या साँचा शब्द और उसके अर्थकी सामग्रीसे बन ही नहीं सकता। ताल देनेवाले मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार तो यहाँ चुप हैं, उन्हें ताल देना आता ही नहीं, फिर शब्दार्थ-बलरूपी तालके अभावमें कविरूपी नट अपनी गति किस ढंगसे बाँधे, वर्णनरूपी नाच किस तालके अनुसार करे। साँचा ही नदारद तो कल्पनाकी मूर्ति किस तरह ढाली जाय। यहाँ राम और भरतका स्नेह तो ऐसा अगम है कि विधि-हरि-हरके मनका भी वहाँतक प्रवेश नहीं है। उस स्नेहका मेरे-जैसे दुर्बुद्धिका कहीं वर्णन करनेका साहस हो सकता है? कहीं गंडाली दूबकी ताँतसे कोई अच्छे रागके निकालनेकी भी अभिलाषा कर सकता है?

यहाँ गाँडर एक प्रकारकी घासके ही अर्थमें प्रयुक्त है। भेड़की ताँत तो बजानेके काममें आती है; परंतु घासके रेशेसे वह काम नहीं ले सकते यद्यपि बटकर तन्तु या ताँत बना सकते हैं। यहाँ कविकी मति गंडाली दूब है जिसमें रागके अच्छे निकलनेकी कोई सम्भावना ही नहीं है। बड़ी कोशिश करनेपर भ्रष्ट राग चाहे निकल भी जाय। सुरागकी तो सम्भावना ही नहीं है। गाँडर और गाडरके भिन्नार्थक परंतु समान रूपमें यहाँ भी वही सौन्दर्य है जो 'खाँड' और 'खाँडा' शब्द-युगलमें [*'अयमय खाँड न ऊखमय'* में] मौजूद है। कविकी मति कुछ भेड़ आदिकी (गाडरकी) ताँत नहीं है जिससे कि सुरागकी भी आशा की जाती है, यहाँ तो गंडाली दूब (गाँडरकी) ताँत है, जिससे सुराग भी नहीं बज सकता। प्रसिद्ध है कि बेसुरा अच्छा पर बेताला नहीं अच्छा। सो यहाँ तो ताल नदारद है, कविकी वाणी (शारद दारु नारि) तो नाचनेसे रहीं। फिर यह कहो कि अच्छा ताल न सही, नाच न सही, तालसमेत गाना न सही, बेतालसमेत ही अच्छे रागमें कहो; तो यहाँ तो मैं कुमति ठहरा, यहाँ तो गाडर (भेड़ आदिकी) ताँत नहीं, बल्कि गाँडर (गंडाली दूबकी) ताँत है, यह भी कभी अच्छे राग बजा सकी है?

वि० त्रि०—*'कहहु सुपेम···ताँती'* इति। छाया यदि देख लें तो कवि उस पुरुषका वर्णन कर डालें, कविमें इतना पुरुषार्थ होता है, पर यहाँ तो प्रेम-समाधिमें चारों अन्तःकरण ही विस्मृत हैं, और ये ही प्रेम प्रकट करनेवाले हैं, इनमें उस प्रेमकी छाया ही नहीं पड़ रही है, अतः उस प्रेमका वर्णन कविके बूतेकी बात ही नहीं है। '**तालः कालक्रियामानम्**' कालकी क्रियाका नाम है ताल। सो समाधिमें कालकी

क्रिया नहीं होती और नाचनेवालेको उसीका अनुसरण करना ठहरा; इसी भाँति प्रेम-समाधिमें अन्त:करणकी क्रिया ही रुकी हुई है, वह अवस्था शब्द और अर्थकी पहुँचके बाहर है।

भरतके स्नेहतक विधि-हरि-हरके मनकी पहुँच नहीं, जब ऐसे सुमति महानुभावोंकी यह दशा है तो मैं तो कुमति ठहरा मुझसे कैसे कहते बनेगा। कोई कुराग होता तो भेंड़के ताँतसे बन जाता। सुराग तो बूढ़ी भैंसके आँतकी जो ताँत होती है उससे बनता है। भेंड़की आँत बहुत छोटी होती है, और लचीली नहीं होती अत: सुराग बननेके सर्वथा अयोग्य है। गाँडर भेंड़को कहते हैं इसीसे भेंड़ पालनेवाले गँड़ेरिया कहलाते हैं। आज भी रीवाँ आदि देशोंमें भेंड़को गाँडर कहते हैं।

मिलनि बिलोकि भरत रघुबर की। सुरगन सभय धकधकी धरकी॥ ७॥
समुझाये सुरगुरु जड़ जागे। बरषि प्रसून प्रसंसन लागे॥ ८॥
दो०—मिलि सपेम रिपुसूदनहि केवटु भेंटेउ राम।
भूरि भायँ भेंटे भरत लछिमन करत प्रनाम॥ २४१॥

शब्दार्थ—'**धकधकी**'—गले और छातीके बीचका गड्ढा जिसमें स्पन्दन (धड़कन) मालूम होती है; धुकधुकी; कलेजा, दिल। '**धरकना**' (धड़कना)=धकधक करना। भय, उद्वेग आदिके कारण हृदयका जोर-जोरसे जल्दी-जल्दी कूदना। धुकधुकी धड़कनी=अकस्मात् आशंका या भय होना। '**जागना**'=सजग वा सावधान होना, मोह छूटना, सचेत होना। निद्राका भंग होना। आँखें खुलना (मुहावरा)। '**भाय**'=भाव, प्रेम।=भाँति, ढंग, यथा—*'लखि पिय बिनती रिस भरी चितवै चञ्चल भाय। तब खंजनसे दृगनमें लाली अति छबि छाय॥'* (मतिराम)

अर्थ—श्रीभरत-रघुवर-मिलाप देखकर देवगण भयभीत हो गये, उनके कलेजे धड़कने लगे॥ ७॥ देवगुरु बृहस्पतिजीके समझानेपर वे मूर्ख चेते और फूल बरसाकर प्रशंसा करने लगे॥ ८॥ प्रेमपूर्वक शत्रुघ्नजीसे भेंटकर श्रीरामचन्द्रजी केवटसे भेंटे (गले लगाकर मिले)। लक्ष्मणजीके प्रणाम करते ही भरतजी बहुत प्रेमसे बहुत भाँति उनसे गले लगकर मिले॥ २४१॥

नोट—१ (क) *'भरत राम की मिलनि लखि बिसरे सबहि अपान'* (२४०) पर मिलाप कहकर बीचमें छ: अर्धालियोंमें प्रीतिका अकथनीय अनिर्वचनीय होना कहते रहे, अब फिर वहींसे प्रसङ्ग उठाते हैं। वहाँ *'भरत राम की मिलनि लखि'* कहा और यहाँ *'मिलनि बिलोकि भरत रघुबर की।'* (ख) अभीतक सब सुध-बुध भूले रहे जब होश आया तब फिर अपने पुराने स्वभावपर आ गये। बृहस्पतिने पूर्व समझाया था उससे अबतक सँभले रहे। जब देखा कि रामजी स्वयं उनके प्रेममें विदेह हो गये तब ढाढस जाता रहा, कलेजा काँप उठा कि ये अवश्य उनको फेर ले जायँगे।

नोट—२ *'जड़ जागे'*—जड़ और जागेका कैसा उत्तम संयोग है। जड़ थे, (जड़से) चेतन हो गये। जागनेसे सोना पाया जाता है, सोते समय मनुष्य जड़वत् हो जाता है ही, जब जीव अपने कर्तव्यको भूल जाता है तो वही उसका सोना है, उसको सावधान करनेमें पूज्यकवि प्राय: उसे जड़ कहते हैं और उसके साथ 'जागना' क्रियाका प्रयोग करते हैं—*'जरठाइ दसा रबिकाल उयेउ अजहूँ जड़ जीव न जागहि रे।'* देवता मोहरूपी रातमें सो रहे थे, यथा—*'मोह निसा सब सोवनिहारा', 'महामोह निसि सूतत जागू।'* गुरुके समझानेसे मोहरात्रि दूर हो गयी, ज्ञान-भानुका उदय हुआ, वे चैतन्य हुए—(शिला)।

भेंटेउ लषन ललकि लघु भाई। बहुरि निषादु लीन्ह उर लाई॥ १॥
पुनि मुनिगन दुहु भाइन्ह बंदे। अभिमत आसिष पाइ अनंदे॥ २॥
सानुज भरत उमगि अनुरागा। धरि सिर सियपदपदुमपरागा॥ ३॥
पुनि पुनि करत प्रनाम उठाए। सिर कर कमल परसि बैठाए॥ ४॥
सीयँ असीस दीन्हि मन माहीं। मगन सनेह देह सुधि नाहीं॥ ५॥

शब्दार्थ—'**ललकि**' (सं० ललन=लालसा करना)=ललककर, प्रबल अभिलाषासे, उत्साह या उमंगसे, चाहकी उमंगसे भरकर। 'अनंदे'=आनन्दित वा प्रसन्न हुए।

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी छोटे भाईसे ललककर मिले, फिर निषादको हृदयसे लगा लिया॥ १॥ फिर दोनों भाइयों-(भरत-शत्रुघ्न-) ने मुनिवृन्दको प्रणाम किया, मनोवाञ्छित आशीर्वाद पाकर आनन्दित हुए॥ २॥ अनुज शत्रुघ्नसहित भरतजी प्रेमसे उमँगकर श्रीसीताजीके चरणकमलरजको सिरपर धारणकर बारंबार प्रणाम करते हैं और वे उनको उठाती हैं। श्रीसीताजीने उन्हें उठाकर कर-कमलसे सिरको स्पर्श करके (अर्थात् सिरपर हाथ फेरकर) उनको बिठाया॥ ३-४॥ श्रीसीताजीने मन-ही-मन आशीर्वाद दिया। वे प्रेममें मग्न हैं, उन्हें देहकी सुध नहीं है॥ ५॥

टिप्पणी—१ पु० रा० कु०—*'ललकि लघु भाई।'* यहाँ यह अपनी ओरसे लगा लेना चाहिये कि शत्रुघ्नजीने लक्ष्मणजीको प्रणाम किया और उन्होंने इन्हें तुरंत उठाकर लालसापूर्वक गलेसे लगा लिया। हमजिन्स जैसे हमजिन्सको देखकर मिले। ललक यह कि हम भगवत्-सेवामें हैं और हमारा भाई भागवत-सेवामें है। (नोट—'निषाद' पद देकर उसकी जाति और भाग्य दिखाया। **बहुरि**=तत्पश्चात्। अथवा इससे यह भी जनाया कि शृङ्गवेरपुरमें प्रथम हृदयसे लगाया था अब पुनः हृदयसे लगाया)।

टिप्पणी—२ (क) *'अभिमत आसिष'* यथा—*'जन्म जन्म रति रामपद यह बरदान न आन।'* (२०४) *'सीयराम पद सहज सनेहू।'* (१९७। ८) यही उनका मनोरथ है जो उन्होंने प्रयागराज त्रिवेणी और सुरसरिसे माँगा था। (ख) *'सिर कर कमल परसि'*—सिरपर हाथ फेरना प्यार और बाधाशान्तिका आशीर्वाद प्रकट करता है। रामजी विह्वल हो गये थे—*'कहुँ पट कहुँ निषंग""'।* ये विह्वल नहीं हुईं इसीसे आशीर्वाद देती हैं, पर मनहीमें, और मन स्नेहमें मग्न हो गया। यहाँ भी अनुराग दोनों तरफ है। दोनों भाइयोंने *'उमगि अनुरागा""करत प्रनाम'* वैसे ही श्रीसीताजी *'मगन सनेह'* होकर *'सिर कर कमल परसि'* बिठाती हैं और प्रेमभरा मन आशीर्वाद दे रहा है। देखिये वाल्मीकीय आदिकी 'सीता' और मानसकल्पकी 'सीता' में कैसा अन्तर है!

नोट—ऐसा जान पड़ता है कि मुनिमण्डली भी श्रीरामजीके साथ-ही-साथ कुछ आगे बढ़ आयी थी, नहीं तो श्रीराम-लक्ष्मणजीके पश्चात् सीताजीको प्रणाम करते।

सब बिधि सानुकूल लखि सीता। भे निसोच उर अपडर बीता॥ ६॥
कोउ किछु कहइ न कोउ किछु पूछा। प्रेम भरा मन निज गति छूछा॥ ७॥
तेहि अवसर केवटु धीरजु धरि। जोरि पानि बिनवत प्रनामु करि॥ ८॥
दो०—नाथ साथ मुनिनाथ कें मातु सकल पुर लोग।
सेवक सेनप सचिव सब आए बिकल बियोग॥ २४२॥

शब्दार्थ—'अपडर'=आशङ्का, कल्पित या झूठा भय, यथा—*'अपडर डरेउँ न सोच समूले', 'अपभय सकल महीप डेराने।', 'समुझि सहम मोहि अपडर अपने। सो सुधि राम कीन्हि नहिं सपने॥'* 'अप' उपसर्ग जिस शब्दके पहले आता है उसके अर्थमें निम्नलिखित विशेषता उत्पन्न करता है—निषेध, अपकृष्ट, विकृति, विशेषता (श० सा०)। *'छूछा'*=खाली—यह शब्द प्रायः छोटी वस्तुओंके साथ आता है।

अर्थ—सब तरहसे श्रीसीताजीको अपने ऊपर प्रसन्न देखकर वे शोचरहित हो गये और हृदयकी आशङ्का जाती रही॥ ६॥ उस समय न (तो) कोई कुछ कहता है और न कोई उनकी (क्षेम-कुशल आदि वार्ता) पूछता है। मन प्रेमसे परिपूर्ण है और अपनी गति-(चाल, चञ्चलता, संकल्प, विकल्प-) से खाली हो गया है॥ ७॥ उस समय केवट धीरज धरकर हाथ जोड़कर प्रणाम करके विनती करने लगा॥ ८॥ हे नाथ! मुनिराज वसिष्ठजीके साथ सब माताएँ, पुरवासी, सेवक, सेनापति, मन्त्री सब-के-सब आपके वियोगसे व्याकुल होकर आये हैं॥ २४२॥

नोट—१ *'भे निसोच उर अपडर बीता'* इति। (क) जो अपनेसे ही डरे उसके डरको 'अपडर' कहते हैं (पु० रा० कु०)। (ख) श्रीरघुनाथजीको प्रसन्न देखकर डर न गया और यहाँ गया, यह

क्यों? उत्तर—श्रीजानकीजी सब भागवतोंके लिये आचार्यारूपा हैं और केवल आचार्यकी कृपा ही कल्याणका मूल कारण है। वनवासमें भाइयोंकी अपेक्षा इनको बहुत क्लेश हुए होंगे। यह भय रहा होगा (रा० प्र०)। अथवा, मैं ही उनके पति तथा उनके वनवासका कारण हूँ, मेरे ही कारण उन्होंने पतिके साथ वनका कष्ट झेलना स्वीकार किया और दु:ख सह रही हैं, इत्यादि समझकर वे मुझसे अप्रसन्न होंगी, यह आशंका थी।

नोट—२ *'तेहि अवसर केवटु धीरजु धरि………'* इति।—इस प्रसङ्गमें आदि, मध्य, अन्त तीनोंमें 'केवट' पद कविने अपने वाक्योंमें दिया है। डूबतेको केवट बचाता है। आदिमें प्रभुकी वेदिका आदिका दर्शन 'केवट' ने कराया, यथा—*'तब केवट ऊँचे चढ़ि धाई। कहेउ भरत सन भुजा उठाई॥'*; फिर मध्यमें *'मिलि सपेम रिपुसूदनहि केवटु भेंटेउ राम'* और यहाँ अन्तमें *'तेहि अवसर केवटु धीरजु धरि।'* श्रीरामजीसे मिलनेमें भी—'केवट' से मिलना कहा अर्थात् श्रीरामजीको यही सावधान करेगा। ये तीनों शब्द पूज्य कविके हैं। यह पद आदिमें ही देकर इस भावका सूक्ष्म बीज वहीं बो दिया था। केवट अधीर हो जाय तो नाव डूब ही जाय, उसका धैर्य धारण करना अत्यावश्यक है। डूबतेको बचानेवाला, डूबेको निकालनेवाला केवट ही हो सकता है, यदि धीर हो। अतएव जहाँ सब मग्न हैं वहाँ इसीका धीरज धरकर बोलना कहा। श्रीजनकमहाराजकी सभा भी जब स्नेहमें डूबी तब वहाँपर नदीका ही रूपक दिया है, यथा—*'सुर सिद्ध तापस जोगिजन मुनि देखि दसा बिदेह की। तुलसी न समरथ कोउ जो तरि सकइ सरित सनेह की॥'* (२७६) तब *'धीरज धरिअ नरेस कहेउ बसिष्ठ बिदेह सन'*। यहाँके 'केवट' पदसे भी वैसा ही रूपक समझना चाहिये। यहाँ चारों भाई स्नेहनदीमें डूब रहे हैं, उनको सहारा देकर नदीके पार करना यह काम 'केवट' का है। इतना ही नहीं, सब अवधवासी शोकसिन्धुमें डूबे हैं, उनके शोकको भी दूर करनेका उपाय कर रहा है, इससे भी केवट ही बड़ा उपयुक्त शब्द है।

नोट—३ *'नाथ साथ मुनिनाथ कें………'* इति। सब लोग तो भरतजीके साथ आये हैं पर यहाँ मुनिनाथके साथ आना कह रहे हैं—यह केवटकी चतुरता है, राजा ही तो ठहरा। ऐसा कहनेसे मुनिका नाम सुनते ही प्रभु उस प्रेमसागरसे तुरंत निकल आवेंगे, भरतके प्रेमसे निकलकर माता-परिजन-पुरजन सबको ले आनेके लिये सावधान होंगे, सबके दु:ख दूर करेंगे (पां०)। पुन: वसिष्ठजी इस समय दशरथजीके स्थानपर हैं, अत: यह कहना उचित ही है कि उनके साथ आये हैं। उनके रहते राजकुमारके साथ आना कहना अनुचित था। दूसरे इस समय भरतजी श्रीरामजीके पास चले आये हैं और वे लोग इस समय वसिष्ठजीके साथ हैं ही (पु० रा० कु०)। देखिये गुरु, परिजन, सभी इसे लक्ष्मण-समान मानते आये; यह भी रामजीसे सबको मिलानेमें लक्ष्मणजीका काम कर रहा है।

वि० त्रि०—*'तेहि अवसर……करि'* इति। बड़ी सावधानी रखी गयी है कि चक्रवर्तीजीके देहावसानका समाचार रघुनाथजीको वसिष्ठजीकी अनुपस्थितिमें न लगने पावे। नहीं तो उन्हें सँभालेगा कौन! जब वे सुनेंगे कि मेरे विरहमें चक्रवर्तीजीने प्राण दिया उस समय उन्हें सँभालनेके लिये गुरुजीकी आवश्यकता है और सावधान होते ही कुशल-मङ्गल पूछनेका अवसर आवेगा। तब क्या कहा जायगा? अत: निषादराज गुरुजीके साथ माताओंके आगमनका समाचार पूरी तरह स्वस्थ होनेके पहिले ही निवेदन करता है।

सीलसिंधु सुनि गुर आगवनू। सिय समीप राखे रिपुदवनू॥ १॥
चले सबेग रामु तेहि काला। धीर धरमधुर दीनदयाला॥ २॥
गुरहि देखि सानुज अनुरागे। दंड प्रनाम करन प्रभु लागे॥ ३॥
मुनिबर धाइ लिए उर लाई। प्रेम उमगि भेंटे दोउ भाई॥ ४॥
प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि तें दंड प्रनामू॥ ५॥

अर्थ—शीलसमुद्र श्रीरामजीने गुरुका आगमन सुनकर शत्रुघ्नजीको सीताजीके पास रखा॥ १॥ उस समय

धीर, धर्म-धुरन्धर, दीनदयाल रामचन्द्रजी तीव्र गतिसे चल पड़े॥ २॥ गुरुजी को देखकर भाई लक्ष्मणसहित प्रभु श्रीरामजी अनुरागसे भर गये और प्रेमपूर्वक साष्टाङ्ग दण्डवत्-प्रणाम करने लगे॥ ३॥ मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजीने दौड़कर उन्हें हृदयसे लगा लिया और प्रेमसे उमगकर दोनों भाइयोंको भेंटा॥ ४॥ प्रेमसे पुलकित होकर केवटने अपना नाम कहकर दूरसे ही दण्डवत् (साष्टाङ्ग पड़कर) प्रणाम किया॥ ५॥

नोट—१ *'सीलसिंधु सुनि'''''''चले सबेग धीर धरमधुर''''''*' इति। (क) शीलसिन्धु तो हैं ही उसपर भी अब गुरु-आगमन सुना, तब तुरत न लेने जाते यह कैसे हो सकता। अतः *'चले सबेग'।* (पु० रा० कु०) (ख) *'राखे रिपुदवनू'— 'रिपुदवनू'* हैं अर्थात् शत्रुके नाशक हैं, इससे श्रीसीताजीकी रक्षामें उनको रखा। लक्ष्मणजी अपनी ही तरह सबसे मिलनेको आतुर होंगे और माता-पुरजन आदि सब उनको देखनेको आतुर होंगे; अतः उनको साथ ले जाना जरूरी था। भरतजी बड़े हैं। उनको यहाँ छोड़कर शत्रुघ्नजीको साथ ले जाना अनुचित है। दूसरे भरतको साथ देखकर सबको इनपर रामजीकी अनुकूलता और प्रेम प्रकट हो जायगा।—*'आपन जानि न त्यागिहैं मोहि रघुबीर भरोस'* का चरितार्थ हो जायगा। कोई महानुभाव ऐसा कहते हैं कि यदि भरतजीको श्रीसीताजीके पास छोड़ते तो पुरजनोंको संदेह होता कि श्रीभरतजीको त्याग तो नहीं दिया।

नोट—२ *'धीर धरमधुर दीनदयाला'* इति। वे गुरु हैं तो ये भी धर्म-धुरन्धर हैं, अपने धर्मपर आरूढ़ हैं। भरतके लिये उनके प्रेमसे यह भी प्रेमसे अधीर होकर उठे थे—*'कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा।'* और गुरुके आगमनमें मर्यादा रखी। भरतके प्रेममें अधीर हो गये थे, अब सावधान हुए, अतः *'धीर'* विशेषण दिया। परिजन-प्रजा सभी *'आए बिकल बियोग',* उनकी व्याकुलतापर दृष्टि है, सबपर कृपा करने चले, क्योंकि 'दीनदयाल' हैं। (पु० रा० कु०) (ग) शील हृदयकी वह स्थायी स्थिति है जो सदाचारकी प्रेरणा आप-से-आप करती है। कर्तव्य और शीलका वही आचरण सच्चा है जो आनन्दपूर्वक हर्षपुलकके साथ हो। यह सब इस प्रसङ्गमें देख लीजिये।—*'चले सबेग',* पुनः, *'गुरहि देखि सानुज अनुरागे''''''''।'*

'गुरहि देखि सानुज अनुरागे।''''''''लाई' इति। गुरुजनोंके दर्शनोंके तथा प्रणाम आदिमें हर्ष-पुलक आदि होना ही चाहिये। यथा—*'''''परत गुर पाय। तुलसी जिन्हहिं न पुलक तन ते जग जीवत जाय।'* (दो० ४२) इन्होंने अपना कर्तव्य और शील-सदाचार पालन किया तो उधर भी तो गुरु 'मुनिश्रेष्ठ' ही हैं उनपर इनका प्रभाव क्यों न पड़े, वे दौड़कर गले लगा लेते हैं। *'धाइ'* से जनाया कि कुछ दूर थे। (पु० रा० कु०)

नोट—३ *'प्रेम पुलकि केवट कहि नामू।''''''''*' इति। केवट तो इनके साथ ही आया था फिर इनको प्रणाम क्यों किया। वह तो अभी कुछ ही देर हुई भरतजीके साथ गया था और साथ ही लौटा? भरतका प्रणाम करना नहीं पाया जाता इसने क्यों प्रणाम किया? ऐसी शङ्का लोगोंने की है पर इसका समाधान तो पूज्य कविने शङ्का उठनेके पूर्व ही कर दिया—*'प्रेम पुलकि।'* श्रीराम-लक्ष्मणजीके प्रेमको देखकर वह भी प्रेमसे प्रफुल्लित हो गया और भूल गया कि मैं तो भरतजीके साथ आया हूँ। यह भी भूल गया कि मुनि तो नाम जानते ही हैं, पहले ही दर्शनमें नाम बता चुका हूँ। प्रेममें वह सब बातें भूल गया मानो आज ही प्रथम भेंट कर रहा है। दूसरे इस समय हमारे स्वामी ही जब प्रणाम कर रहे हैं तो यह कैसे योग्य है कि हम न प्रणाम करें। तीसरे छोटा बड़ेके पास जब जाय तब प्रणाम करे। इससे बढ़कर सदाचार क्या होगा? वह जातिको विचारकर दूरसे ही प्रणाम करता है पर ऋषि उसके प्रेमको देखकर नेम भूल जाते हैं और अपने हृदयकी उच्चताका परिचय देते हैं।

केवट जाति, क्षत्रिय पुरुष और वेश्या स्त्रीसे उत्पन्न, वर्णसङ्कर जाति है। यहाँ 'केवट' शब्द जातिकी हीनताका सूचक है। इसीसे *'कीन्ह दूरि ते दंड प्रनामू।'* पुनः, कवि यह भी जनाते हैं कि यही भरतकी स्नेह-सरितासे पार करके रामजीको आप सबसे मिलाने लाया है। डूबनेसे निकाला, अतः वह सबको परमप्रिय हो जायगा।

रामसखा रिषि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत* सनेह समेटा॥ ६॥
रघुपति भगति सुमंगल मूला। नभ सराहि सुर बरिसहिं फूला॥ ७॥
एहि सम निपट नीच कोउ नाहीं। बड़ बसिष्ठ सम को जग माहीं॥ ८॥
दो०—जेहि लखि लखनहुँ तें अधिक मिले मुदित मुनिराउ।
सो सीतापति भजन को प्रगट प्रताप प्रभाउ॥ २४३॥

शब्दार्थ—'**बरबस**'=हठात्, जबरदस्ती (दोनों हाथसे पकड़कर उठाकर), जोरावरीसे 'लुठना' (सं० लुठन)=भूमिपर पड़ा लोटना।

अर्थ—ऋषि वसिष्ठजी रामसखाको जबरदस्ती गले लगाकर मिले। मानो जमीनपर लोटते पड़े हुए प्रेमको समेट (बटोर, एकत्रकर) लिया हो॥ ६॥ रघुपतिभक्ति सुन्दर मङ्गलोंकी जड़ है, देवता (इस प्रकार) सराहना कर-करके आकाशसे फूल बरसाते हैं॥ ७॥ इसकी तरह निपट नीच कोई नहीं, और वसिष्ठके समान संसारमें बड़ा कौन है?॥ ८॥ जिसे देखकर लक्ष्मणजीसे भी अधिक उससे आनन्दित होकर मुनिराज मिले यह श्रीसीतापति रामचन्द्रजीके भजनका प्रत्यक्ष प्रताप और प्रभाव है॥ २४३॥

'रामसखा रिषि बरबस भेंटा.........'

गङ्गातटपर शृङ्गवेरपुरमें केवट और मुनिका मिलाप नहीं लिखा। इसका कारण है—एक तो भरतमें उसका दुर्भाव, उसकी कुबुद्धि थी, वह परीक्षा लेने गया था। दूसरे वहाँ वसिष्ठजी रथपर थे। निषादके लिये गुरु और मुनीश्वरका रथसे उतरना लोकवेदरीतिसे नहीं बन पड़ता। वे रामहीके वास्ते रथसे नहीं उतर सकते, ऐसा उनका दर्जा है। वे कुलगुरु हैं, तब निषादके लिये कैसे उतरते? जो कहो कि भरत उतरकर क्यों मिले? तो इनका उतरकर मिलना उचित ही है, न मिलना अनुचित था। यह बड़े भाईका सखा है, सखाका दर्जा बराबरीका है। सखा वह है जो सुख-दुःखमें नायकके समान सुख-दुःखको प्राप्त हो। रामजीके लिये भरतका रथसे उतरना लोकवेद-अनुकूल और शिष्टाचार है, यह श्रीरामजीके बराबरका है, अतः इसके लिये उतरे। प्रसङ्गसे भी यही बात पुष्ट और सिद्ध है—'*रामसखा सुनि स्यंदनु त्यागा।*' और वसिष्ठजीने '*जानि रामप्रिय दीन्हि असीसा।*'

यहाँ वसिष्ठजी रथपर नहीं हैं, पैदल हैं और डेरेपर हैं। वसिष्ठजीको रामजीने प्रणाम किया, तब उन्होंने इन्हें उठाकर छातीसे लगा लिया। वह रामसखा है, रामजीने प्रणाम किया, उसने भी प्रणाम किया। श्रीरामके प्रणाम करनेपर उनको दौड़कर गले लगाया, रामसखाने प्रणाम किया तो उसको भी वैसा ही जानकर, रामसखा जानकर, गले लगाया। इनके लिये 'धाये' तो सखाके लिये '*बरबस भेंटा*' पद है। (पु० रा० कु०) (पां०—ऋषि प्रेममें नेमको भूलकर बरबस भेंटने लगे)।

वेदान्तभूषणजी लिखते हैं कि पशु-पक्षीतक मुँह देखकर हृदयका भाव समझ लेते हैं, तब श्रीवसिष्ठजीसे (जो वेदमन्त्रद्रष्टा ऋषि, विवेकसागर और सर्वज्ञ हैं) निषादाधिपति गुहका आन्तरिक भाव कैसे छिप सकता है। गुहका भाव तो उसके ऊपरी व्यवहारहीसे झलक पड़ता है। शृङ्गवेरपुरमें वह परीक्षार्थ गया था, इसलिये उसने वहाँ व्यावहारिक मर्यादापालनार्थ ही '*देखि दूरि तें कहि निज नामा। कीन्ह मुनीसहि दंड प्रनामा॥*' दूरसे दण्ड-प्रणाम करनेसे धर्मकी रक्षा तो हुई, किंतु भीतरसे जो प्रेमका अभाव था उसीसे बाहर शरीरमें पुलकावली नहीं हुई और इसी कारण रविकुलगुरुने रामप्रिय जानते हुए भी व्यावहारिक मर्यादाको सुरक्षित रखनेके लिये आशीर्वादमात्र दिया। प्रेमकी पुलकावली न थी इसीसे हृदयसे न लगाया था और, चित्रकूटमें तो प्रणाम करते समय प्रेम उसके रोम-रोममें भरा था—'*प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि ते दंड*

* 'लुटत'—रा० प्र०।

प्रनामू॥' शृङ्गवेरपुर और चित्रकूटके केवटराजके प्रणाममें ***'प्रेम पुलक'*** के अतिरिक्त अन्य कोई भी विभेद नहीं था; परंतु वह ***'प्रेम पुलक'*** इतनी बड़ी विशेषतासम्पन्न था कि ***'रामसखा रिषि बरबस भेंटा'*** ·······।'

'बरबस' का पूर्वार्द्धसे सम्बन्ध है। केवटने दूरसे दण्डवत् की है—***'कीन्ह दूरि ते दंड प्रनामा।'*** वह तो अपने कुल, जाति, करनी आदिकी न्यूनताके विचारसे दूरसे ही दण्डवत् कर रहा है, ये उठानेको करते हैं, वह हटता है कि मैं इनके छूनेके योग्य नहीं, वह लज्जित है कि कहाँ मैं और कहाँ ऋषि*। आखिर उन्हें जोर लगाना ही पड़ता है, वह अपनेको नीच भले ही माने, पर है तो रामसखा, उसे कैसे जमीनपरसे न उठायें? अतः ***'बरबस'*** कहा—(शिला—बरबससे जनाया कि उसको अपना नीचत्व विचारकर रुचि नहीं है कि वे मुझे छुएँ)।—विशेष १९३ (५—८) देखिये। इसीकी उत्प्रेक्षा करते हैं कि ऐसा जान पड़ता है मानो केवट नहीं है साक्षात् स्नेह ही है जो जमीनपर लोट रहा है। स्नेह चिकनाईको भी कहते हैं और वह होता ही है स्निग्ध; चिकनी वस्तु हाथमें जल्दी नहीं आती, हाथसे निकल जाती है, वैसे ही केवट हाथमें नहीं आता। समेटनेसे उसका संकुचित होना भी जनाया। इसीसे समेटना कहा, अर्थात् दोनों हाथ लगाकर उठा लिया। ***'लुठत'*** से जनाया कि वह बराबर हटाता गया। दण्डवत्का नियम यही है कि आशीर्वाद मिले, या कुछ इशारा उठनेका मिले तब उठना चाहिये। शृङ्गवेरपुरमें तुरत आशीर्वाद मिला था, यहाँ अभी आशीर्वाद नहीं मिला।

कुछ लोगोंका मत है कि शृङ्गवेरपुरमें भरतजीके मिलनेपर देवताओंने जो वचन उस समय कहे थे ***'यहि तौ राम लाइ उर लीन्हा॥ कुल समेत जग पावन कीन्हा॥ करमनास जल सुरसरि परई। तेहि को कहहु सीस नहिं धरई॥'*** (१९४। ६-७) एक प्रकारसे वसिष्ठजीने उन वचनोंको अपने ऊपर कटाक्ष समझकर पश्चात्ताप किया। अतः उस अवसरपर चूके हुए उन्होंने यह अवसर उस खामीकी पूर्त्तिके लिये गनीमत समझा।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी ***'महि लुठत सनेह समेटा'*** का भाव यह कहते हैं मुनिजीने उसे भलीभाँति दण्डवत् भी नहीं करने दिया। जैसे कोई घी या तेलको जमीनपर फैलने न दे और समेट ले, इसी भाँति मुनिजीने उठाकर गले लगाया। भाव यह कि जो रामजीका ऐसा प्रेमी है उसे जमीनपर गिरने नहीं देना चाहिये।

नोट—१ ***'जेहि लखि लषनहुँ तें अधिक'*** ·······' इति। जबतक श्रीरामजीसे भेंट न हुई तबतक सब लक्ष्मणके समान मानते रहे। यथा—***'जानि लषन सम देहिं असीसा।'*** (माताएँ), ***'निरखि निषाद नगर नर नारी। भए सुखी जनु लषनु निहारी॥'*** (पुरवासी), ***'जानि रामप्रिय दीन्हि असीसा।'*** (वसिष्ठजी) ***'रामप्रिय'*** से लक्ष्मण-समान प्रिय अर्थका ग्रहण होगा, क्योंकि वहाँ सबने लक्ष्मणसमान ही माना है। अब जब लक्ष्मणजीसे भेंट हुई और रामजीसे भी, तब इसको सखा जानकर रामके बराबरका माना, श्रीलक्ष्मणजीसे अधिक माना। अतः 'अधिक आनन्द' कहा।

नोट—२ ***'सो सीतापति भजन को प्रगट'*** ·······' इति।—***'सीतापति'*** का भाव कि जो 'उद्‌भव-स्थिति-संहारकारिणी, क्लेशहारिणी, सर्वश्रेयस्करी' हैं और ***'लोकप होहिं बिलोकत जाके'*** अतएव ***'जाकी कृपा कटाक्ष सुर चाहत चितवन सोइ'*** उन श्रीसीताजीके ये स्वामी हैं, तो इनका जो भजन करेगा उसका सर्वथा मङ्गल, कल्याण क्यों न होगा? उसका इतना बड़ा मान्य क्यों न होगा? प्रताप यह कि वसिष्ठजी बरबस भेंटे और प्रभाव कि वह पवित्र हो गया। (पु० रा० कु०) स्मरण रहे कि 'सीतापति' 'सीतानाथ'

---

* समाज चाहे किसी ढंगका हो, उसमें छोटे काम करनेवाले तथा अपनी स्थितिके अनुसार अल्प विद्या, बुद्धि, शील और शक्ति रखनेवाले कुछ-न-कुछ रहेंगे ही। ऊँची स्थितिवालोंके लिये जिस प्रकार इन छोटी स्थितिके लोगोंकी रक्षा और सहायता करना तथा उनके साथ कोमल व्यवहार करना आवश्यक है, उसी प्रकार इन छोटी स्थितिवालोंके लिये बड़ी स्थितिवालोंके प्रति आदर और सम्मान प्रदर्शित करना भी आवश्यक है। नीची श्रेणीके लोग यदि अहंकारसे उन्मत्त होकर ऊँची श्रेणीके लोगोंका अपमान करनेपर उद्यत हों, तो व्यावहारिक दृष्टिसे उच्चता किसी कामकी न रह जाय। विद्या, बुद्धि, बल, पराक्रम, शील और वैभव यदि अकारण अपमानसे कुछ अधिक रक्षा न कर सकें तो उनका सामाजिक मूल्य कुछ नहीं—(पं० रामचन्द्र शुक्लजी, ना० प्र०)।

आदि शब्दोंका प्रयोग प्रायः वहीं होता है जहाँ श्रीरघुनाथजीका अधिक महत्त्व, परत्व, प्रभाव, प्रताप आदि दिखाने होते हैं। उदाहरण—'*साहिब सीतानाथ सों सेवक तुलसीदास।*' (१। २८), '*सीतापति से साहिबहि कैसे दीजै पीठि।*' (दो० ४९) '*कृपिन देइ पाइय परो बिनु साधे सिधि होइ। सीतापति सनमुख समुझि जो कीजै सुभ सोइ॥*' (दो० १७१) '*सीतापति सेवक सेवकाई। कामधेनु सय सरिस सुहाई॥*' (२६६।१) इत्यादि; तथा यहाँ '*सो सीतापति भजन को*……।'

नोट—३ '*भजन को प्रगट प्रताप प्रभाउ*' इति। भाव कि यह श्रीसीतापतिके भजनका ही प्रभाव है, उसीका प्रताप है कि रघुकुलगुरु वसिष्ठ ऐसे बड़े ब्रह्मर्षि उसे रामसमान परमपवित्र मानकर मिले। श्रीमद्भागवत स्कन्ध ७ अ० ९ में प्रह्लादजी (नृसिंहजीकी स्तुतिमें) कहते हैं—'**ब्रह्मादयः सुरगणा मुनयोऽथ सिद्धाः सत्त्वैकतानमतयो वचसां प्रवाहैः। नाराधितुं पुरुगुणैरधुनापि पिप्रुः किं तोष्टुमर्हति स मे हरिरुग्रजातेः॥ मन्ये धनाभिजनरूपतपस्श्रुतौजस:तेज:प्रभावबलपौरुषबुद्धियोगाः। नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय॥ विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभपादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम्। मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थप्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः॥८—१०॥**'

अर्थात् ब्रह्मा आदि देववृन्द मुनि सिद्ध आदि जिनकी बुद्धि सत्त्वमयी है वे भी जिनकी स्तुति न कर सके, वे मुझ ऐसे उग्रजातिवालेकी स्तुतिसे कैसे रीझ सकते हैं? पर मेरा विश्वास है कि धन, उत्तम कुल, रूप, तप, पाण्डित्य, तेजका प्रभाव, बल-पौरुष, बुद्धिमत्ता, योग आदि परपुरुषके आराधनाके योग्य सामग्री नहीं हैं—वे भगवान् तो सर्वगुणहीन गजराजपर भक्तिसे ही रीझे थे। सर्वगुणसम्पन्न ब्राह्मण भी यदि भगवच्चरणारविन्दसे विमुख हो तो उससे मैं उस श्वपचको श्रेष्ठ समझता हूँ जिसका मन-वचन-कर्म-प्राण एवं सर्वस्व ही भगवान्‌को समर्पित है। क्योंकि वह चाण्डाल कुलभरको पवित्र कर देता है और वह बहुमानशाली यह नहीं कर सकता। प्रभु अपने ही लाभसे पूर्ण एवं करुणानिधान हैं। वे अज्ञ पुरुषोंसे अपनी पूजाकी कामना नहीं रखते……॥११॥

रा० ब०—१ यहाँ गोस्वामीजीने केवटका वर्णन विशेषतया द्योतित किया केवल भक्तिके माहात्म्यबृद्ध्यर्थ।

२—इस प्रसंगभरमें (दोहा २३६ से लेकर आगेतक और अन्यत्र भी चित्रकूट प्रसंगमें) श्रीसीताजीका नाम प्रधानतया निर्दिष्ट है। इसका कारण ही है कि—यह चित्रकूट-वर्णन-प्रसंग किंच देवीभागवतमें लिखा है कि चित्रकूटमें सीताजी वास करती हैं, यथा—'**गायत्री वेदवदने पार्वती शिवसन्निधौ। चित्रकूटे तथा सीता विन्ध्ये विन्ध्याधिवासिनी॥**' इसी बातको विशेषतया प्रकट करने लिये गोस्वामीजीने चित्रकूटमें प्रधानतासे सीताजीका वर्णन किया है।

आरत लोग राम सबु जाना। करुनाकर सुजान भगवाना॥१॥
जो जेहि भायँ रहा अभिलाषी। तेहि तेहि कै तसि तसि रुख राखी॥२॥
सानुज मिलि पल महुँ सब काहू। कीन्हि दूरि दुखु दारुन दाहू॥३॥
यहि बड़ि बात राम कै नाहीं। जिमि घट कोटि एक रबि छाहीं॥४॥

शब्दार्थ—'**भाय**'=भावना, भाव, मनमें किसी प्रकारका चिन्तन करना, विचार। रुख=रुचि, इच्छा छाहीं=प्रतिबिम्ब, पदार्थोंका आकार जो शीशे, जल आदिमें दिखायी पड़ता है।

अर्थ—करुणाकी खानि, सुजान, भगवान् रामजीने सब लोगोंको दुःखी जाना॥१॥ जो-जो जिस-जिस भावसे मिलनेका अभिलाषी था, उस-उसकी उसी-उसी प्रकार रुचि रखी॥२॥ भाईसहित पलभरमें सब किसीसे मिलकर दुःख और दुःखजनित कठिन जलनको मिटा दिया॥३॥ श्रीरामजीकी यह कोई बड़ी बात नहीं है। जैसे करोड़ों (जलसे भरे हुए) घड़ोंमें एक ही सूर्यका प्रतिबिम्ब (देख पड़ता है)॥४॥

टिप्पणी—१ '*आरत लोग राम सबु जाना।*……' इति। 'राम' हैं, सबमें रमण करते हैं, अतः 'जाना'। ये करुणाकर हैं और वे सब आर्त्त हैं, दुःख देखकर दया आयी, यथा—'*करुनामय रघुनाथ गोसाईं। बेगि*

पाइअहि पीर पराई।' (८५।२) दया हो, पर शरणागतके जीकी न जाने तो भी क्या करेगा, यथार्थ उपाय नहीं कर सकेगा; अतः '**सुजान**' कहा। पुनः, दया भी हो और दुःख और भाव एवं अभिलाषाको जाने भी, पर सामर्थ्य न हो तो भी सब व्यर्थ ही है; अतः कहा कि ये 'भगवान्' हैं, षडैश्वर्ययुक्त हैं, 'कर्तुमकर्तुम्' को भी समर्थ हैं, इसीसे दुःख जाना, दया की, उनकी अभिलाषाएँ और भावनाएँ जानीं और उनको पूरी कीं। और तुरत ही क्षणमात्रमें।

२—*'जेहि भायँ रहा अभिलाषी'* अर्थात् शिष्यभाव, यजमान-भाव, पुत्रभाव, भ्रातृभाव, सखाभाव, राजाभाव, इत्यादि *'जिन्हके रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥'* (१।२४१) सबकी रुचि पूर्ण हुई [जिसकी जिस भावमें अभिलाषा रही उसकी उसी प्रकार रुचि पूरी की, दूसरा रूप नहीं धरा। क्योंकि विशेष उदासी (वेशमें) हैं। जब १४ वर्ष बीत जायेंगे तब श्रीअवधमें अमितरूप प्रकट करना कहेंगे। यहाँ छायामात्र सबकी दृष्टिमें रूपका ही बोध हुआ। इसीसे *'घट कोटि एक रबि छाहीं'* का उदाहरण दिया। (शीला)

टिप्पणी—३ (क) *'येहि बड़ि बात राम कै नाहीं'* इति। भाव कि ये राम हैं, रमणशील हैं, सबमें रमण कर रहे हैं। अतएव पलभरमें सबसे मिल लिये तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। (ख) *'जिमि घट कोटि एक रबि छाहीं'* इति। भाव कि जैसे जलसे भरे हुए करोड़ों घड़ोंमें एक ही सूर्यका प्रतिबिम्ब रहता है वैसे ही एक 'श्रीरामजी ही समस्त प्राणियोंके भीतर स्थित हैं। जो जहाँ है वहीं उसको वे देख पड़े। यथा—'**यथानेकेषु कुम्भेषु रविरेकोऽपि दृश्यते', एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥** (१२) **घटवद्विविधाकारम्**……॥' (१४)॥ (ब्रह्मबिन्दूपनिषद्) अर्थात् जैसे अनेकों घड़ोंमें एक ही सूर्य दिखायी पड़ता है। सम्पूर्ण भूतोंका एक ही अन्तर्यामी आत्मा प्रत्येक प्राणीके भीतर स्थित है। पृथक्-पृथक् जलमें प्रतिबिम्बित होनेवाले चन्द्रमाकी भाँति वही एक और अनेक रूपोंमें दृष्टिगोचर होता है। जीवोंका यह शरीर घटके ही सदृश है। जैसा वेद कहते हैं '**नमोऽस्त्वनन्ताय सहस्त्रमूर्तये**', वही बात यहाँ कही है। यहाँ श्रीरामजी रवि हैं और जीवोंके भाव घट हैं। अनेक रूप सूर्यकी 'छाहीं' हैं।

वि० त्रि०—कोटि घटसे सूर्यका मिलना प्रतिबिम्बद्वारा होता है। प्रतिबिम्ब सूर्यका ही रूप है। दूसरेके लिये यह क्रिया असाध्य है, पर रामजीके लिये यह बड़ी बात नहीं है, एक कौतुक है, यथा—*'प्रेमातुर सब लोग निहारी। कौतुक कीन्ह कृपालु खरारी॥ अमित रूप प्रगटे तेहि काला। यथा योग मिलि सबहिं कृपाला॥'* यहाँ आर्त्त लोगोंसे मिलना है, इसलिये 'कौतुक' शब्द नहीं कहा गया, पर बात वही है। अमित रूप जो अपना प्रकट किया, वह सब प्रतिबिम्ब ही था, प्रकट करनेवाला मुख्य रूप अलग ही था।

नोट—इस प्रसङ्गका मिलान उत्तर काण्डमें रावणवधपर अयोध्या लौटकर आनेके प्रसंगसे कीजिये यथा—*'प्रेमातुर सब लोग निहारी। कौतुक कीन्ह कृपाल खरारी॥ अमित रूप प्रकटे तेहि काला। जथाजोग मिले सबहि कृपाला॥ कृपादृष्टि रघुबीर बिलोकी। किए सकल नर नारि बिसोकी॥ छन महँ सबहि मिले भगवाना। उमा मरमु यह काहु न जाना॥ एहि बिधि सबहि सुखी करि रामा।'* (७।६।४—८)

जैसे वहाँ *'प्रेमातुर' 'निहारी'* वैसे ही यहाँ *'आरत' 'जाना'*। वहाँ *'जथा जोग मिले'* यहाँ, *'जो जेहि भाय रहा……तेहि तेहि कै तसि।'* वहाँ *'छन महँ सबहि मिले',* यहाँ भी *'मिलि पल महुँ सब काहू।'* जैसे वहाँ *'अमित रूप प्रगटे तेहि काला। उमा मरम यह काहु न जाना॥'* वैसे ही यहाँ *'येहि बड़ि बात राम कै नाहीं। जिमि घट कोटि एक रबि छाँहीं॥'* वहाँ *'किये सकल नर नारि बिसोकी'* यहाँ *'कीन्हि दूर दुखु दारुन दाहू।'* वहाँ *'कृपालु खरारी भगवान',* यहाँ *'करुनाकर सुजान भगवाना।'*

दोनोंके मिलानसे भी पता चला कि आतुर या आर्त देखकर कृपा की; अमित रूपसे प्रकट हो गये, सबके दुःख दूर किये। इन सबके साथ 'कृपा' पद है। पलभरमें मिले किसीको भेद न मालूम हुआ इस सम्बन्धमें 'भगवान' विशेषण आया है। वहाँ 'कौतुक' शब्द है इससे वहाँ 'खरारी' भी कहा, क्योंकि खरके वधमें कौतुक किया था, यथा—*'सुर मुनि सभय प्रभु देखि मायानाथ अति कौतुक करेउ।'* (आ० २०)

यहाँ 'कौतुक' शब्द नहीं है, इसीसे 'खरारी' नहीं कहा। यहाँ उसकी जगह 'सुजान' कहा, सबके प्रेमको पहचानते हैं—*'जानत प्रीति रीति रघुराई।'* यहाँ प्रीतिकी पहचान है भी—*'जो जेहि भाय रहा अभिलाषी।'* रूप वैसा ही और भाव अनेक धारण किये। खर-वधमें एक-सा रूप और भाव था—*'देखहिं परस्पर राम।'* (आ० २०) अर्थात् धनुर्धारी शत्रुरूप राम ही सबको देख पड़े।

मिलि केवटहि उमगि अनुरागा। पुरजन सकल सराहहिं भागा॥५॥
देखीं राम दुखित महतारीं। जनु सुबेलि अवली हिम मारीं॥६॥
प्रथम राम भेंटी कैकेई। सरल सुभायँ भगति मति भेई॥७॥
पग परि कीन्ह प्रबोधु बहोरी। काल करम बिधि सिर धरि खोरी॥८॥

दो०—भेंटी रघुबर मातु सब करि प्रबोधु परितोषु।
अंबु ईस आधीन जगु काहु न देइअ दोषु॥२४४॥

शब्दार्थ—भेई-भँवना, भेना=भिगोना, तर करना, सराबोर करना, यथा—*'लुचई पोइ पोइ घी भेईं। पाछे चहनि खाँड सों जेईं'*— (जायसी), *'सिरका भेड़ काढ़ि जनु आने। कमल जो भये रहहिं बिकसाने।'* प्रबोध=आश्वासन, सान्त्वना; पूर्ण बोध, दिलासा तसल्ली, ढाढ़स।

अर्थ—अनुरागसे उमड़कर केवटसे मिलकर सब पुरवासी भाग्यकी सराहना करते हैं॥५॥ रामजीने दुःखी माताओंको देखा। (वे ऐसी दीखती हैं) मानो पाला मारी हुई सुन्दर लताओंकी पंक्ति हों!॥६॥ श्रीरामजी सबसे प्रथम कैकेयीसे मिले, अपने सरल स्वभाव और स्वाभाविक भक्तिसे उसकी बुद्धिको सराबोर कर दी (वा भक्तिसे भीगी हुई बुद्धिसे उससे मिले)॥७॥ पैरों पड़कर फिर काल, कर्म, विधिके सिर दोष रखकर (अर्थात् आपका कुछ दोष नहीं, ऐसा होना ही था) उनको अच्छी प्रकार ढाढ़स दिया॥८॥ श्रीरघुनाथजी सब माताओंसे मिले, सबको समझाकर सन्तुष्ट किया कि हे माता, संसार ईश्वरके अधीन है, किसीको दोष न देना चाहिये॥२४४॥

नोट—१ *'मिलि केवटहि उमगि अनुरागा।'* इति। सब पुरजन उसके भाग्यको सराहते हैं। (पु० रा० कु०) ऐसा ही शृङ्गवेरपुरमें हुआ, यथा—*'कहहिं लहेउ एहि जीवन लाहू। भेंटेउ रामभद्र भरि बाहू॥ सुनि निषाद निज भाग बड़ाई।'* (१९६। ७-८) [पर वहाँ *'निरखि निषाद नगर नरनारी। भये सुखी जनु लषनु निहारी॥'* वहाँ पुरवासियोंने इससे भेंट न की थी और यहाँ तो गुरु वसिष्ठने सबके लिये राह खोल दी। इस समय उससे मिलकर यदि वे अपने भाग्यको बड़ा मानें तो बड़ी बात नहीं। उससे मिलकर उसका भाग्य सराहना कुछ अधिक प्रशंसा उसकी नहीं है।] (ख) ऐसा भी कुछ लोगोंका मत है कि यह मिलना रामजीका है, केवट नहीं मिला, रामजी उससे स्वयं उसका मान बढ़ानेके लिये मिले। इससे सब जानेंगे कि वह रामको कैसा प्रिय है।

नोट—२ *'देखीं राम दुखित महतारीं।.......'* इति। (क) भरतजी जब अयोध्यामें आकर माता कौसल्याके पास गये थे तब उन्होंने उनको इस दशामें देखा था—*'मलिन बसन बिबरन बिकल कृस सरीर दुख भार। कनक कलप बर बेलि बन मानहुँ हनी तुषार॥'* (१६३) यहाँ *'मारीं'* बहुवचन क्रियासे सभी माताओंकी वैसी ही दशा जनायी। *'अवली'* भी यही सूचित करता है। सब माताएँ साथ रही होंगी। इसीसे 'अवली' शब्द दिया। चित्रकूटके लिये प्रस्थान करनेके लिये जब श्रीभरतजी माता कौसल्याके पास गये तब भी वहाँ अन्य माताओंको उनके पास देखा था, यह *'राममातु पहिं भरतु सिधारे। आरत जननी जानि सब भरत सनेह सुजान॥.........'* (१८६) से अनुमानित होता है। (ख) यहाँ उपर्युक्त प्रमाणानुसार 'सुबेलि'=कल्प बर बेलि, सुन्दर कल्पलता। पं० रामकुमारजीका मत है कि *'सुबेलि अवली'* से पानकी लता ले सकते हैं जो बड़ी कोमल होती है और जिसकी बड़ी हिफाजत (रक्षा) करनी पड़ती है। (ग) *'हिम मारीं'* में वही भाव है जो *'हनी तुषार'* में है दोहा १६३ देखिये।

नोट—३ *'प्रथम राम……खोरी'* इति। यद्यपि सब माताएँ दुःखित थीं, पर सब दुःखोंका कारण अपनेको जानकर कैकेयीजी अधिक दुःखित थीं, अतः पहिले सरकार उन्हींसे मिले। सरकारमें किसी प्रकारका विकार नहीं है। सरल स्वभाव मातृभक्तिके भावसे आर्द्र हो रहा था। कैकेयी रोने लगीं, तो सरकारने काल-कर्म-विधिके ऊपर दोष रखकर उसे समझाया *'जननी जनि होय दुखी जियमें करनी बिधिकी कछु जात न जानी। सब नाचत कर्मकी डोरी बँधे जग कोउ नहीं अपने बस प्रानी॥ मति हू तस होत समय जस होत, बृथा मनमें नर मानत ग्लानी। सपनो सो सबै अपनो न कछू जिय जानि कै हानि न मानत ज्ञानी॥'* माताएँ जब उन्हें दोष देने लगीं तो उन्हें भी समझाया कि *'अंब ईस आधीन जग काहु न देइअ दोष।'* (वि० त्रि०)

टिप्पणी—१-पु० रा० कु०—*'सरल सुभायँ भगति मति भेई'* इति।—सरल=सौम्य। **'भगति मति'**=मातृसम्बन्धी भक्ति अर्थात् इस भावसे कि हम पुत्र हैं, यह माता है। भाव कि रामजी सरल स्वभाव हैं और मातृभक्तिरसमें उनकी मति भीगी हुई है। (पु० रा० कु०) श्रीरामजी जन्मसे ही कैकेयीको सरल स्वभावसे माता मानते थे यह बात कौसल्याजीने स्वयं कही है। यथा—*'तुलसी सरल भाय रघुराय माय मानी काय मन बानी हू न जानी कै मतेई है।'* (क० २। ३) वैसे ही उसी सरल भाव-भक्तिसे मिले।

टिप्पणी—२ *'काल करम बिधि सिर धरि खोरी।'* तीनका दोष कहा। ज्योतिषी काल कहते हैं, मीमांसक उसे कर्म कहते हैं और **'पूर्वजन्मकृतं कर्म तद्दैवमिति कथ्यते।'** इससे तीन नाम दिये। पुनः, कालका फेर कि तिलककी तैयारी की और कैकेयीसे मिलने गये, सोचे न, वचनबद्ध हो गये। कर्म यह कि कबका वर पड़ा था, इसी समय दासीको समझानेको था? इसी समय माँगना और देना था। वा अन्धशाप कर्मवश यह हुआ।* (ख) कुछ लोग यह ध्वनि निकालते हैं कि 'अपने सिर दोष ले लिया' अर्थात् हमारी ही इच्छा थी।

टिप्पणी—३ *'भेंटी रघुबर मातु सब……'* इति। 'काल करम' को दीपदेहली न्यायसे यहाँ भी लगा लें तो इनको इस प्रकारसे समझाना हुआ और फिर अन्तमें मुख्य सिद्धात कहा कि—सारा जगत् ईशके अधीन है जो नियन्ता है वही सब करता है, कर्म आदि भी कहनेको हैं। यथा—*'माया जीव कालके करमके स्वभावके करैया राम वेद कहें साँची मन गुनिये।'* (बाहुक) [रा० प्र०—ध्वनि यह है कि हमको ऐसा करना ही था।]

'ईस आधीन जगु' इति। यहाँ 'ईश'=ईश्वर, परमात्मा, सबका नियामक। सब जगत् ईश्वरके अधीन है। किस तरह अधीन है यह गीतामें भगवान्ने स्वयं कहा है—**'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥'** (१८। ६१) ईश्वर समस्त प्राणियोंके हृदयदेशमें अर्थात् सम्पूर्ण प्रवृत्ति-निवृत्तियोंके मूलमें ज्ञानके उत्पत्तिस्थानमें रहता है। यन्त्रपर आरूढ़ हुए सब प्राणियोंको मायासे घुमाता रहता है अर्थात् अपने ही द्वारा बनाये हुए शरीर-इन्द्रिय आदिके रूपमें स्थित प्रकृतिरूप यन्त्रपर आरूढ़ हुए समस्त प्राणियोंको अपनी सत्त्वादि गुणमयी मायासे गुणोंके अनुसार चलाता रहता है।

यही बात गीता १५।१५ **'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।'** तथा **'मत्तः सर्वं प्रवर्तते।'** (गीता १०।८) में कही है। अर्थात् मैं ही सबके हृदयमें प्रविष्ट हूँ, मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन (ज्ञानकी निवृत्ति) होता है। सब मुझसे ही प्रवृत्त किये जाते हैं। **'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा।'** (तै० आ० ३। ११)। **'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमयति।'** (बृह० उ० ३। ७। २२)' आदि श्रुतियाँ भी प्रमाण हैं।

गुरतियपद बंदे दुहुँ भाई। सहित बिप्रतिय जे सँग आई॥ १॥
गंग गौरि सम सब सनमानीं। देहिं असीस मुदित मृदु बानीं॥ २॥

---

* पां०—दूसरा अर्थ यह है कि 'परमबोधकर' अर्थात् अपना स्वरूप दिखाकर। कालकर्म बिधि (=काल पाकर जो कर्मका विधान हो गया उसका) दोष अपने सिर लिया। 'अंब ईस'=गौरीशङ्कर।

गहि पद लगे सुमित्रा अंका। जनु भेंटी संपति अति रंका॥ ३॥
पुनि जननी चरननि दोउ भ्राता। परे पेम ब्याकुल सब गाता॥ ४॥
अति अनुराग अंब उर लाए। नयन सनेह सलिल अन्हवाए॥ ५॥

शब्दार्थ—**गौरी**=गौरी, पार्वती, तुलसी—*'गंगा गौरी शालिग्राम।'*

अर्थ—दोनों भाइयोंने ब्राह्मणोंकी स्त्रियाँ जो साथ आयी थीं उनके सहित गुरुपत्नीके चरणोंको प्रणाम किया॥ १॥ सबका गङ्गा-गौरी समान सम्मान किया। सब प्रसन्न होकर कोमल वाणीसे आशीर्वाद दे रही हैं। (सुमित्राजीके) चरण पकड़कर पैर लगकर अर्थात् प्रणाम करके दोनों सुमित्राजीकी गोदसे जा लगे, मानो अत्यन्त दरिद्रको सम्पत्तिसे भेंट हो गयी। (वा, सम्पत्तिको ही भेंटा हो)॥ २-३॥ फिर दोनों भाई माता कौसल्याके चरणोंमें पड़े, सब अङ्ग प्रेमसे व्याकुल हो गये हैं॥ ४॥ बड़े ही अनुरागसे माताने हृदयसे लगा लिया और नेत्रोंके प्रेमजल ले उन्हें नहला दिया॥ ५॥

वि० त्रि०—*'गंग गौरि······मृदु बानीं'* इति। ब्रह्मकुल शङ्कररूप है, यथा—'**मूलं धर्मतरोर्विवेकजलधेः पूर्णेन्दुमानन्ददं वैराग्याम्बुजभास्करं ह्यघघनध्वान्तापहं तापहम्। मोहाम्भोधरपूगपाटनविधौ स्वःसम्भवं शङ्करं वन्दे ब्रह्मकुलं कलङ्कशमनं श्रीरामभूपप्रियम्॥**' शङ्कर भगवान्‌की दो शक्तियाँ हैं, उमा और गङ्गा, यथा—'**यस्याङ्के च विभाति भूधरसुता देवापगा मस्तके**', अतः गुरुतिय और विप्रतियका सम्मान गङ्गा और गौरीकी भाँति सरकारने किया।

प० प० प्र०—जो विधवा हैं वे गङ्गाके समान हैं। महाराष्ट्रमें उनको गङ्गा भागीरथी' ही लिखते हैं (जैसे पुरुषोंको श्रीयुत, महाशय आदि) और सौभाग्यवती स्त्रियोंको गौरी-सम सम्मान किया।

वीर—विप्रतिय उपमेय, गङ्गा गौरि उपमान, समवाचक और जानना धर्म 'पूर्णोपमा अलङ्कार' है।

नोट—१ *'गहि पद लगे सुमित्रा अंका······'* इति। सुमित्राजीकी गोदमें ऐसे जा चिपटे मानो अति दरिद्रको सम्पत्ति मिल गयी हो। जैसे वह उस सम्पत्तिको चिपटे वैसे ये चिपटे। श्रीसुमित्राजी परम भक्ता हैं, अतः उनसे मिलनेमें ऐसा आनन्द हुआ ही चाहे। इसी तरह गुप्त तापससे मिलनेपर *'राम सप्रेम पुलक उर लावा। परम रंक जनु पारस पावा॥'* (१११। १) कहा है। यहाँ श्रीराम-लक्ष्मणजी 'अति रंक' हैं और श्रीसुमित्राजी 'सम्पत्ति' हैं। बैजनाथजीका मत है कि सुमित्राजीने दोनोंको हृदयसे लगा लिया। उन्हींकी प्रसन्नता उत्प्रेक्षाका विषय है। अर्थात् सुमित्राजी अति रंक हैं और दोनों भाई सम्पत्ति हैं। पर मेरी समझमें श्रीसुमित्राजी सम्पत्ति हैं। 'लगे' का कर्ता *'रामलक्ष्मण दोउ भाई'* है। सुमित्राका अंक (गोद) सम्पत्ति है। यह 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार' है।

नोट—२ *'पुनि जननी चरननि········'* इति। यहाँ 'जननी' का अर्थ माता है। माता कौसल्याके चरणोंमें पड़ गये। माता कौसल्या बहुत दुःखी और व्याकुल हैं। यथा—*'मलिन बसन बिबरन बिकल कृस सरीर दुखभार।'* (१६३) अतः दोनों भाई भी *'परे प्रेम ब्याकुल सब गाता।'* **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** यहाँ भी चरितार्थ हुआ। वात्सल्य उमड़ आया, माताने तुरत उठाकर छातीसे लगा लिया, प्रेमाश्रुकी धारा बह चली। यहाँ माताने हृदयसे लगाया और श्रीसुमित्राजीके अङ्कमें स्वयं जा लगे थे।

नोट—३ सबसे पीछे प्रभु श्रीसुमित्राजी और कौसल्याजीसे मिले। कारण यह कि इन्हें अलौकिक ज्ञान है। पीछे मिलनेसे इनको कष्ट न होगा और अन्य सब माताएँ पुत्र और पति दोनोंसे हीन हैं उनको बहुत कष्ट है, उनसे पहले मिलनेसे उनको बड़ा सन्तोष होगा कि ये हमारे ही पुत्र हैं, कौसल्या मातासे भी हमें अधिक मानते हैं। दूसरे, शास्त्राज्ञानुसार विमाताका गौरव अपनी मातासे बहुत अधिक है, यह पूर्व दिखा आये हैं।

नोट—४ पु० रा० कु०, रा० प्र०—आवरण देवताओंका पूजन करके प्रधानका पूजन होता है।—विशेष २५२ (७) में देखिये।

तेहि अवसर कर हरष बिषादू। किमि कबि कहइ मूक जिमि स्वादू॥ ६॥
मिलि जननिहि सानुज रघुराऊ। गुर सन कहेउ कि धारिअ पाऊ॥ ७॥
पुरजन पाइ मुनीस नियोगू। जल थल तकि तकि उतरेउ लोगू॥ ८॥
दो०—महिसुर मंत्री मातु गुर गनें लोग लिए साथ।
पावन आश्रम गवनु किय भरत लषन रघुनाथ॥ २४५॥

शब्दार्थ—**धारिअ पाऊ**=पदार्पण कीजिये, पधारिये, चलिये। धारना=धरना, रखना, यथा—*'धन्य भूमि बन पंथ पहारा। जहँ जहँ नाथ पाँव तुम्ह धारा॥'* 'पाँव धरना मुहावरा है—'किसी स्थानपर जाना'। **उतरे**=डेरा डाला। **गने**=गिनेगिनाये, इने-गिने, गिनतीके अर्थात् बहुत थोड़े—(यह मुहावरा है)। वा, चुने हुए कुछ लोग। **थल**=ठहरने टिकनेका स्थान, यथा—*'चले थलहि सिय देखी आई।'* (२८६। ३) *'बेगि पाउ धारिअ थलहि।'* (२८४) **नियोग**=आदेश, आज्ञा।

अर्थ—उस समयका हर्ष और शोक कवि कैसे कहे जैसे गूँगा वस्तुका स्वाद कैसे बतावे?॥ ६॥ श्रीरघुनाथजीने भाईसहित मातासे मिलकर गुरुसे कहा कि आश्रमपर चलिए॥ ७॥ गुरुकी आज्ञा पाकर पुरवासियोंने जलथलका सुपास देख-देखकर डेरा डाला॥ ८॥ ब्राह्म, मन्त्री, माता, गुरु आदि गिने-गिनाये लोगोंको साथ लिये हुए श्रीभरत-लक्ष्मण-रघुनाथजी पवित्र आश्रमको चले॥ २४५॥

नोट—१ *'हरष बिषादू'*— मिलनेका हर्ष और उदासीवेष, रामवियोगका भय, इनके प्रेममें राजाकी मृत्यु इत्यादिके स्मरणसे विषाद। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि श्रीरामचन्द्रजीने भोगोंका त्याग कर दिया है यह देखकर माताएँ दु:खी हुईं—**तं भोगैः सम्परित्यक्तं रामं सम्प्रेक्ष्य मातरः। आर्त्ता मुमुचुरश्रूणि सस्वरं शोककर्शिताः॥**' (२। १०४। १७) दोनों भावोंका एक साथ उदय होना 'प्रथम समुच्चय अलङ्कार' है।

नोट—२ *'मूक जिमि स्वादू'*— जैसे गूँगा उत्तम-उत्तम पदार्थ खावे, पर स्वाद नहीं बता सकता, चाहता है कि बतावे पर बोल नहीं सकता, स्वाद जानता है पर कह नहीं सकता। पुन: भाव कि जैसे गूँगेका स्वाद दूसरा क्या जाने और वह गूँगा है, अनुभव करता है पर बता ही नहीं सकता तब कोई कैसे कहे? हर्ष-शोक ऐसा है कि वे अवाक् हो गयी हैं, दूसरा उसका अन्दाजा कर नहीं सकता, जैसा वे अनुभव कर रही हैं, वह उन्हींका हृदय जानता है, कवि उसका अनुभव भी नहीं कर सकता। मिलान कीजिये=*'नैनहिं ढरहिं मोति औ मूँगा। जस गुर खाय रहा है गूँगा॥'*— (जायसी), *'ज्यों गूँगा गुर खाइ कै स्वाद न सकइ बखान।'* गूँगेका गुड़, गूँगेका स्वाद—ये मुहावरे हैं। इनका अर्थ है—'ऐसी बात जिसका अनुभव हो पर वर्णन न हो सके; ऐसी बात जो कहते न बने'। यहाँ 'उदाहरण अलङ्कार' है।

पु० रा० कु०—*'जल थल तकि तकि'*— जगह तजबीजकर जलका सुपास देखकर। अपने-अपने योग्य स्थानोंमें सब ठहरें। अर्थात् *'उत्तम मध्यम नीच लघु निज निज थल अनुहार'* ठहरें। इसमें कोई विषमता नहीं क्योंकि श्रीरामजी सबसे उसकी-उसकी रुचि अनुकूल मिल चुके, अब अधिकारके अनुसार ठहरेंगे। आश्रमपर सब भीड़ समा नहीं सकती, दूसरे वहाँ मुनिसमाज भी है, उन सबको कष्ट होगा।

सीय आइ मुनिबर पग लागी। उचित असीस लही मन माँगी॥ १॥
गुरपतिनिहि मुनितियन्ह समेता। मिली पेमु कहि जाइ न जेता॥ २॥
बंदि बंदि पग सिय सबही के। आसिर बचन लहे प्रिय जी के॥ ३॥
सासु सकल जब सीय निहारीं। मूँदे नयन सहमि सुकुमारीं॥ ४॥
परी बधिक बस मनहु मराली। काह कीन्ह करतार कुचाली॥ ५॥
तिन्ह सिय निरखि निपट दुख पावा। सो सब सहिअ जो दैउ सहावा॥ ६॥

शब्दार्थ—जेता=जितना। **आसिर बचन**=आशीर्वचन, आशीर्वाद, आशिष। सहावना वा **सहाना**=बरदास्त कराना, देना, सहन करना, भोग करना। **सहना**=(फल) भोगना, झेलना, अपने सिरपर लेना, उठाना।

अर्थ—श्रीसीताजी आकर मुनिवर वसिष्ठजीके चरणोंमें लगीं (पद स्पर्श किये, पयलगी की, पैर छूकर प्रणाम किया) और मन-माँगी उचित आसिष पायी॥ १॥ मुनियोंकी स्त्रियोंसहित गुरुपत्नी श्रीअरुन्धतीजीसे प्रेमपूर्वक मिलीं, जितना प्रेम है, वह कहा नहीं जाता॥ २॥ सभीके चरणोंकी (पृथक्-पृथक्) वन्दना कर-करके जीको प्यारे लगनेवाले आशीर्वाद पाये॥ ३॥ जब श्रीसीताजीने सब सासुओंको देखा तो सहमकर उस सुकुमारीने नेत्र बंद कर लिये (दशा देखी न गयी)॥ ४॥ (ऐसी सहमी देख पड़ती हैं) मानो हंसिनी व्याधा-(बहेलिये-) के वशमें पड़ गयी हो अथवा, (उनको ऐसा प्रतीत हुआ) मानो हंसिनियाँ व्याधाके वशमें पड़ गयी हों। (वे सोचती हैं कि) विधाताने (यह) क्या कुचाल की है?॥ ५॥ उन्होंने भी सीताजीको देखकर अत्यन्त दुःख पाया (और सोचने लगीं कि) जो कुछ दैव सहावे, वह सब सहना ही पड़ता है॥ ६॥

नोट—१ (क) *'मन माँगी'* मुहावरा है अर्थात् जिसकी मनमें चाह थी, जो चाहती थीं, मनको रुचिकर या प्रिय। (ख) *'उचित असीस लही······'* इति। भाव कि गुरुने उचित आशीर्वाद दिया, वही ये चाहती भी थीं, यथा—*'पति प्रिय होहू'* सावित्री हो, कल्याणी हो, इत्यादि। पतिव्रता अहिवात और पतिका प्रियत्व चाहती ही हैं। यह भी दिखाया, कि मनमें उचित ही बातकी चाह होती है, अनुचितकी नहीं। बाबा हरिदासजी कहते हैं कि तपस्वी वेषमें उचित आसिष यह है कि तुम्हारी रामसेवा और तपस्या सुफल हों। किसीका मत है कि—*'प्राननाथ देवरसहित कुसल कोसला आइ। पूजिहि सब मन कामना सुजस रहिहिं जग छाइ॥'* (१०२)। यही जो गङ्गाजीसे माँगा और उन्होंने दिया था वही यहाँ भी मिला इत्यादि। गोस्वामीजीने किसी एक आशीर्वादका नाम न देकर *'उचित'* और *'मन माँगी'* पद देकर सबके मतका निर्वाह कर दिया, यह कविका कौशल है।

नोट—२ *'मूँदे नयन सहमि सुकुमारीं'* इति। सुकुमारी अर्थात् बड़ी कोमल हैं। अतः डर गयीं, देखा न गया। कैसी सहमकर दीख रही हैं यही उत्प्रेक्षाका विषय है—(पं०, वि० टी०)। बैजनाथजी *'परी बधिक बस······'* को सासुओंकी सौभाग्यहीन दशाकी उत्प्रेक्षा मानते हैं, वे लिखते हैं कि 'व्याधा और विधवपन परस्पर उपमेय-उपमान हैं' पर यहाँ अन्तिम वचनमें सीताजीकी दशा कहकर उत्प्रेक्षा की गयी है, दूसरे *'परी'* और *'मराली'* एकवचन हैं और सीताजीकी सुकुमारताके विचारसे इनको 'हंसकुमारी, मराली, हंसगवनि' पूर्व भी कहा है। यथा—*'डाबर जोगु कि हंसकुमारी।'* (६०। ५), *'हंसगवनि तुम्ह नहिं बन जोगू।'* (६३। ५), *'मानस सुधा सलिल प्रतिपाली। जिअइ कि लवन पयोधि मराली॥'* (६३। ६)—उसीके अनुकूल यहाँ भी *'मराली'* और *'सुकुमारी'* पद दिये गये हैं। (प्र० सं०)

श्रीबैजनाथजीके मतसे वीरकविजी, श्रीपोद्दारजी और श्रीविजयानन्द त्रिपाठीजी भी सहमत हैं। त्रिपाठीजी इस मतकी पुष्टिमें कहते हैं कि 'वैधव्यके चिह्न ऐसे स्पष्ट होते हैं कि देखते ही पता लग जाता है, पर यहाँ बड़ी सावधानीसे वह चिह्न रानियोंने छिपा रखा है, जिसमें राम-लक्ष्मण-जानकीजीको देखते ही चक्रवर्तीजीके देहावसानका पता न चले, उस समाचारको रामजी गुरुजीके ही मुखसे सुनें। अतः न तो रामजीको माताओंके और न सीताजीको सासुओंके वैधव्यका पता महारानियोंसे मिलनेके समय चला, नहीं तो वहीं रोना-गाना आरम्भ हो जाता। इसके बाद गुरुजीने सबको बैठनेको कहा, जगत्की गतिका मायिक होना निरूपण करके तब नृपका सुरपुर गमन सुनाया, तब रामजी भी व्याकुल हुए और *'कुलिस कठोर सुनत कटु बानी। बिलपत लखन सीय सब रानी॥'* सीताजी भी विलाप करने लगीं। इससे स्पष्ट है कि इसके पहिले चक्रवर्तीजीके देहावसानका पता न लक्ष्मणजीको था और न राम-जानकीको था।

सीताजीने स्वप्न देखा था कि सास लोगोंके स्वरूपमें बड़ा अन्तर पड़ गया है, यहाँ उसीको स्पष्ट करते हैं कि जैसे मरालीके स्वरूपमें बड़ा भारी अन्तर बधिकके वशमें पड़नेसे हो जाता है, वे अत्यन्त

दीन-दुःखी मालूम होती हैं वैसी ही सास लोग मालूम हुईं, सीताजीसे देखा न गया। 'मरालियाँ' का प्रयोग मानसमें नहीं देखा जाता, अतः मराली शब्दका बहुवचनमें भी प्रयोग हो सकता है।'

नोट—३ ***'तिन्ह सिय निरखि निपट दुख पावा।'*** इति। वाल्मी० २। १०४ में कौसल्याजीने कहा है कि 'विदेहराजकी कन्या, राजा दशरथकी पतोहू, रामचन्द्रकी स्त्री सीता इस निर्जन वनमें क्यों कष्ट उठा रही हैं। घामसे सूखे हुए कमलके समान और मसले हुए रक्त कमलके समान तुम्हारा यह मुख देखकर दुःखरूपी अरणीसे उत्पन्न यह शोक जो मेरे मनमें वर्तमान है, मुझे जला रहा है। जिस प्रकार अग्नि अपने आश्रयको जिससे उत्पन्न होती है उसीको जला देती है।—**'वैदेहराजन्यसुता स्नुषा दशरथस्य च। रामपत्नी कथं दुःखं सम्प्राप्ता विजने वने॥** (२४) **पद्ममातपसंतप्तं परिक्लिष्टमिवोत्पलम्। काञ्चनं रजसा ध्वस्तं क्लिष्टं चन्द्रमिवाम्बुदैः॥** (२५) **मुखं ते प्रेक्ष्य मां शोको दहत्यग्निरिवाश्रयम्। भृशं मनसि वैदेहि व्यसनारणिसम्भवः॥**' (२६)—यह सब भाव इस चरणसे जना दिये हैं।

नोट—४ ***'सो सब सहिअ जो दैउ सहावा'*** अर्थात् सब दैवाधीन है। अभी-अभी श्रीरामजी सबको यही समझा भी आये हैं—***'काल करम बिधि सिर धरि खोरी', 'अंब ईस आधीन जग काहु न देइय दोष'*** इसीसे कैकेयीजीको दोष न देकर भाग्य वा विधाताको ही दोष देती हैं। वे ही इसे वनमें लाये। नहीं तो यह क्या इस योग्य थी? यहाँ 'तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यंग' है।

जनकसुता तब उर धरि धीरा। नील नलिन लोयन भरि नीरा॥७॥
मिली सकल सासुन्ह सिय जाई। तेहि अवसर करुना महि छाई॥८॥
दो०—लागि लागि पग सबनि सिय भेंटति अति अनुराग।
हृदय असीसहिं प्रेमबस रहिअहु भरी सोहाग॥२४६॥

शब्दार्थ—**भरी सोहाग**—सौभाग्यवती स्त्रियाँ माँगमें सिन्दूर लगाती हैं और इसे सौभाग्यका चिह्न समझती हैं, जिसकी माँग सिन्दूरसे भरी नहीं होती वह सुहागहीन समझी जाती है। इसीसे 'सुहागसे भरी-पूरी, सुहाग भरा रहे' इत्यादि मुहावरे हुए। अर्थात् सौभाग्यवती रहो, पतिसुख तुमको अखण्ड रहे, सधवा बनी रहो। '**सुहाग भरना**'=माँग भरना। **सुहाग**=अहिवात, सौभाग्य, स्त्रीकी सधवा रहनेकी अवस्था।

अर्थ—तब जनकसुता सीताजी हृदयमें धीरज धरकर और नील कमलके समान नेत्रोंमें जल भरकर सब सासुओंसे जाकर मिलीं। उस समय पृथ्वीपर करुणा छा गयी॥७-८॥ सबके पैरों लग-लगकर सीताजी बड़े ही अनुरागसे सबसे मिल रही हैं। सब प्रेमवश हैं, हृदयमें आशीर्वाद दे रही हैं कि सोहागसे भरीपूरी रहोगी अर्थात् सदा सौभाग्यवती रहो, अहिवात अचल हो॥२४६॥

नोट—(क) *'जनकसुता'* अर्थात् *'ज्ञान निधान सुजान सुचि धरम धीर नरपाल', 'धुरधीर जनक से। ज्ञान अनल मन कसे कनक से'* ऐसे जनक महाराजकी पुत्री हैं, फिर ये क्यों न धैर्य धारण करें? (ख) जानकीजीके हृदयमें करुण रस प्रधान है और इसका रंग साहित्यमें कबूतरका-सा नीला-धुमैला कहा गया है इसीसे नेत्रोंको नीले कमलकी उपमा दी गयी। (वीरकवि) यहाँ 'वाचकधर्मलुप्तोपमा अलङ्कार' है।

२—***'करुना महि छाई'*** इति। (क) सात सौ सासुएँ और सीताजी सब एक साथ रोने लगीं। आश्रमपर मैदानमें सब हैं। रोनेका शब्द दूरतक फैल गया। (ख)—अवधमें जब लोगोंको वनवासकी खबर मिली थी तब कहा था—***'मुख सुखाहिं लोचन स्त्रवहिं सोक न हृदय समाइ। मनहु करुनरस कटकई उतरी अवध बजाइ॥'*** (४६) देखिये। फिर भरतजीके केकयदेशसे लौटनेपर कौसल्याजीके महलमें ***'कौसल्याके वचन सुनि भरत सहित रनिवासु। ब्याकुल बिलपत राजगृह मानहुँ सोक नेवासु॥'*** (१६६) ऐसा कहा था और यहाँ ***'करुना महि छाई'*** तीनोंका मिलान कीजिये।' 'करुणा' का भाव दोहा ४६ में देखिये। वही भाव यहाँ है।

३—***'लागि लागि पग सबनि'*****'''''' इति। (क) इससे जनाया कि समस्त सासुओंको अलग-अलग प्रणाम किया। ***'लागि लागि पग'*** —यह रीति है। स्त्रियाँ अञ्चल हाथमें लेकर चरण छूती हैं वही यहाँ ***'लागि***

पग' से सूचित किया। गी० १। १०८ में सात-सौ माताओं 'पालागन' करना कहा है। यथा—*'पाँलागनि दुलहियन सिखावति सरिस सासु सत साता। देहिं असीस ते बरिस कोटि लगि अचल होउ अहिवाता॥'* (ख) *'हृदय असीसहिं प्रेमबस'* इति। करुणा और प्रेम दोनोंके वश होनेसे इस समय हृदय भर आया है, कण्ठ अवरुद्ध हो गया है, इसीसे हृदयमें आशीर्वाद दे रही हैं।

बिकल सनेह सीय सब रानीं। बैठन सबहि कहेउ गुर ग्यानी॥ १॥
कहि जग गति मायिक मुनिनाथा। कहे कछुक परमारथ गाथा॥ २॥
नृप कर सुरपुर गवनु सुनावा। सुनि रघुनाथ दुसह दुखु पावा॥ ३॥
मरन हेतु निज नेहु बिचारी। भे अति बिकल धीर धुर धारी॥ ४॥
कुलिस कठोर सुनत कटु बानी। बिलपत लषन सीय सब रानी॥ ५॥
सोक बिकल अति सकल समाजू। मानहुँ राजु अकाजेउ आजू॥ ६॥

शब्दार्थ—गति=चाल, व्यवहार। '**धीर धुर धारी**'—धीर शुद्ध शब्दका अर्थ धैर्यवान् है पर प्रान्तिक प्रयोग इसका केवल पद्यमें 'धैर्य' अर्थमें भी होता है, वही अर्थ यहाँ है। धैर्यरूपी धुरे या बोझेको धारण करनेवाले। राजु=राजा। **अकाजना**=जाते रहना, मरना, गत होना।

अर्थ—श्रीसीताजी और सब रानियाँ स्नेहके कारण व्याकुल हैं। ज्ञानी गुरुने सबको बैठनेको कहा॥ १॥ जगकी गतिको मायिक कहकर* मुनिराजने कुछ परमार्थकी कथाएँ कहीं॥ २॥ राजाकी स्वर्गयात्रा सुनायी, जिसे सुनकर रघुनाथजीने दुसह दुःख पाया॥ ३॥ मरनेका कारण अपना स्नेह विचारकर धीरधुरंधर श्रीरामजी अत्यन्त व्याकुल हो गये॥ ४॥ वज्रके-से कठोर और कड़ुवे वचन सुनकर लक्ष्मणजी, सीताजी और सब रानियाँ विलाप करने लगीं॥ ५॥ सारा समाज शोकसे अत्यन्त व्याकुल है। मानो राजा आज ही मरे हैं॥ ६॥

नोट—१ *'गुर ग्यानी'* का भाव कि ये ज्ञानी हैं इससे ये सावधान हैं और सबको ज्ञानका उपदेश करके सावधान करेंगे, सबका शोक दूर करेंगे, इससे प्रथम ही 'ज्ञानी' विशेषण दिया। यथा पूर्व—*'सोक निवारेउ सबहि कर निज बिज्ञान प्रकास॥'* (१५६) तथा यहाँ अपने विज्ञान-प्रकाशसे शोक हरेंगे।

नोट—२ *'कहि जग गति मायिक मुनिनाथा।'''''''''* इति। पहले जगत्‌के व्यवहार, चाल आदिको मायाकृत बताया अर्थात् यह सब अनित्य है, नश्वर है, स्थिर नहीं रहता क्योंकि असत्य है। इत्यादि। यथा—'**एकवृक्षसमारूढा नानावर्णा विहङ्गमाः। प्रभाते दिक्षु दशसु यान्ति का परिदेवना॥**' इति चाणक्यनीतिदर्पण। अर्थात् एक वृक्षपर अनेक पक्षी आकर बैठते हैं, सबेरे दशों दिशाओंमें चल देते हैं तो इसमें एकको दूसरेका सोच क्यों?-(वि० टी०) हर्ष-शोक आदि सबका मूल मोह है। यथा—*'जनम मरन जहँ लगि जगजालू। संपति बिपति करम अरु कालू॥ धरनि धाम धन पुर परिवारू। सरग नरक जहँ लगि ब्यवहारू'''''''''मोहमूल परमारथ नाहीं।'* (९२। ४—८) देखिये इनको मनमें न व्याप्त होने दे, कमलवत् जलमें रहते उससे निर्लेप रहे। फिर परमार्थ कहा—*'कहि परमारथ बचन सुदेसे।'* (१६९। ८) एवं दोहा १५६ व ९१-९२ देखिये। पाँड़ेजी लिखते हैं कि 'जगत्‌की गतिको मायिक कहा, इसका आशय यह है कि अवधराज्यके मनोरथका आनन्द जाता रहा और विपत्ति उत्पन्न हुई—सो यह सब एक झूठी माया है। यह कहकर फिर कुछ परमार्थकी कथा कही जिससे सूचित किया कि राजा दशरथने धर्मपक्षमें शरीरका त्याग किया और आपने उनकी आज्ञा मानकर वनमें आना अङ्गीकार किया; यही परमार्थ झूठे जगत्‌में सत्य है।'

☞ महाभारतमें अनेक स्थानोंपर जगत्‌की गति, शोक और अनिष्टके कारण और उनके निवारणके उपायोंके उपदेश आये हैं। वे सभी प्राणियोंके मनन करने और स्मरण रखने योग्य हैं। वे सब *'कहि जग मायिक गति'* तथा *'मुनिबर बहुरि राम समुझाए।'* (२४७। ७)। की व्याख्या ही हैं। उनमेंसे कुछ यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

* 'मायापूर्ण संसारकी चाल'—(दीनजी)—'मायासे की हुई संसारकी गतिको मिथ्या कहकर'—(वीर)।

शोक आनेपर विचार करे कि ओह! संसार कैसा दुःखमय है? ऐसी दृष्टि रखनेसे मनुष्य मोहमें नहीं फँसता—कि यह शरीर, यह पृथ्वी अपनी नहीं है। 'जैसी मेरी है वैसी ही दूसरोंकी भी है। यह राज्य-लक्ष्मी इत्यादि न मेरी है, न तुम्हारी, न दूसरेकी। यह किसीके पास स्थिर नहीं रहती। जिस प्रकार समुद्रमें दो लकड़ियाँ मिलती हैं, रेलगाड़ी, नाव या जहाजमें अनेक देशोंके लोग मिलते हैं, वृक्षपर रातको अनेक पक्षी बसेरा लेते हैं......फिर अलग-अलग हो जाते हैं वैसे ही इस लोकमें प्राणियोंका समागम होता है तथा उसी तरह यह पुत्र, पौत्र, जाति, बन्धु और सम्बन्धियोंकी कल्पना हो जाती है। अतः उनसे विशेष स्नेह नहीं करना चाहिये, एक दिन उनसे विछोह होना निश्चित है।

हमारा यह पुत्र, यह स्त्री, यह पिता इत्यादि किस अज्ञात स्थानसे आये थे और अब किस अज्ञात स्थानको चले गये? न हम उनको जानते थे, न वे हमें। तब हम उसके कौन हैं जो शोक कर रहे हैं। हमने अज्ञानवश इनमें अपनापन मान लिया था इसीसे दुःख हुआ। रेल आदिके साथियोंमें अपनपौ न था, इससे उनके विछोहमें शोक न हुआ।

तुम्हारे दुःख माननेसे तो दुःखोंकी और भय माननेसे भयोंकी वृद्धि ही होगी। किसी प्राणीको सदा सुख या दुःखकी ही प्राप्ति नहीं होती। मनुष्य स्नेहकी अनेक प्रकारकी फाँसियोंमें बँधे हुए हैं और जलमें बालूका पुल बनानेवालोंके समान अपने कार्योंमें असफल होनेसे दुःख पाते रहते हैं। जिस प्रकार बूढ़ा हाथी दलदलमें फँसकर प्राण खो बैठता है, उसी प्रकार सब लोग पुत्र, स्त्री और कुटुम्बकी आसक्तिमें फँसकर शोकसमूहमें डूबे रहते हैं, उनके लिये जन्मभर पाप कमाते हैं जिसका फल उन्हें अकेले भोगना पड़ता है। वे भूल जाते हैं कि सुख-दुःख, जन्म-मरण आदि सब कुछ दैवाधीन है, प्रारब्धानुसार ही मिलेगा। मनुष्य हितैषियोंसे युक्त हो या न हो, वह शत्रुओंसे घिरा हो या मित्रोंसे तथा बुद्धिमान् हो अथवा बुद्धिहीन—दैवकी अनुकूलता होनेपर ही सुख पा सकता है। अन्यथा न तो हितैषी सुख देनेमें समर्थ है और न शत्रु दुःख देनेमें। न बुद्धि धन दे सकती है और न धन सुख पहुँचा सकता है। वास्तवमें संसारकी गति कोई बुद्धिमान् ही समझ सकता है, दूसरा नहीं।......अतः बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि सुख या दुःख, प्रिय या अप्रिय जो-जो प्राप्त होता जाय उसका उत्साहके साथ सामना करे, कभी हिम्मत न हारे। शोकके हजारों स्थान हैं और भयके सैकड़ों अवसर हैं, किंतु वे दिन-दिन मूर्खोंपर ही प्रभाव डालते हैं, बुद्धिमानोंपर नहीं।

जो पुरुष उत्पत्ति और विनाशके तत्त्वको जानता है उसे शोक नहीं होता। मनुष्य बुद्धिमान् हो, मूर्ख हो अथवा शूरवीर हो—अपने पूर्व जन्ममें उसने जैसा भी शुभ या अशुभ कर्म किया होता है उसका उसे वैसा ही फल भोगना पड़ता है। इस प्रकार जीवोंको बारी-बारीसे प्रिय-अप्रिय और सुख-दुःखकी प्राप्ति होती ही रहती है। ऐसे विचारका आश्रय लेकर कामनाओंके त्यागरूपी गुणसे युक्त होनेसे मनुष्य सुखसे रहता है। अतः सब प्रकारके भोगोंमें दोषदृष्टि करे और उन्हें स्वेच्छासे त्याग दे।

मनुष्य जब किसी पदार्थमें ममत्व कर बैठता है तो वही उसके दुःखका कारण बन जाता है। वह विषयोंमेंसे जिस-जिसकी आसक्तिको त्यागता जाता है, उसी-उसीसे सुखकी वृद्धि होती जाती है। किंतु जो पुरुष विषयोंके पीछे पड़ा रहता है, वह तो उन्हींके साथ नष्ट हो जाता है। लोकमें जितना भी विषयसुख है और जो कुछ दिव्य स्वर्गीय आनन्द है, वह सब तृष्णा-क्षयके सुखकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं हो सकते।—(शान्तिपर्व। सेनजित्को ब्राह्मणका उपदेश) पिंगलाने अपने शोकग्रस्त होनेका कारण यह बताया है कि 'हमारे सच्चे प्रियतम सदा स्वस्थ रहनेवाले हैं। वे सदा हमारे साथ हैं, वे ही हमारे सच्चे माता-पिता, भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र, पति, सुहृद्-सखा इत्यादि हैं। उनको भुलाकर नश्वर प्राकृतिक जड़ पदार्थोंको मैंने अपना मान लिया, विषयोंसे सुखकी आशा की; इसीसे शोकग्रस्त हुई।' जो मारे गये वे तो अब किसी भी कर्म-यज्ञादिसे मिल नहीं सकते और न कोई ऐसा पुरुष ही है जो उन्हें लाकर दे दे। बुद्धि या शास्त्राध्ययनके द्वारा असमयमें ही किसी विशेष वस्तुको पा लेना मनुष्यके वशकी बात नहीं है। कभी-कभी तो मूर्ख मनुष्यको भी उत्तम वस्तुकी प्राप्ति हो जाती है। वास्तवमें कार्यकी सिद्धिमें कालहीकी प्रधानता

है। शिल्पमन्त्र और ओषधियाँ भी दुर्भाग्यके समय काम नहीं देतीं। समयकी अनुकूलता होनेपर जब सौभाग्यका उदय होता है तो वे ही सफलता और बृद्धिकी निमित्त बन जाती हैं। समय आनेपर ही मेघ जल बरसाते हैं। बिना समयके वृक्षोंमें फल नहीं लगते तथा जबतक अनुकूल समय नहीं आता तबतक पक्षी, सर्प, मृग, हाथी और हरिणियोंमें कामोन्माद नहीं आता, स्त्रियाँ गर्भ धारण नहीं करतीं; जाड़ा, गर्मी और वर्षा ऋतुएँ नहीं आतीं। किसीका जन्म या मरण नहीं होता, बालक बोलना आरम्भ नहीं करता, मनुष्यपर यौवन नहीं आता और बोया हुआ बीज अङ्कुरित नहीं होता।

'संसारमें तो केवल दु:ख ही है सुख है ही नहीं, इसलिये लोगोंको दु:खकी ही उपलब्धि होती है। यहाँ सुखके पीछे दु:ख और दु:खके पीछे सुख लगा ही रहता है। सुखका अन्त तो दु:खहीमें होता है। कभी-कभी दु:खसे भी सुखकी प्राप्ति हो जाती है। इसलिये जिसे नित्य सुखकी इच्छा हो वह सुख-दु:ख दोनोंको ही त्याग दे। सुख या दु:ख जो कुछ भी प्राप्त हो उसे हृदयमें अवसाद न लाकर प्रसन्नतासे सहन करे। भाई! अपने स्त्री और पुत्रोंके प्रति अनुकूल आचरणमें थोड़ी-सी भी कमी कर दो, फिर तुम्हें मालूम हो जायगा कि कौन किस हेतुसे किसका किस प्रकार सम्बन्धी है।'—ये महामति राजा सेनजित्के वाक्य हैं।

इस जीवका न तो कभी कोई सम्बन्धी हुआ है न होगा ही। संसारमें हमारे हजारों माता-पिता, स्त्री-पुत्र आदि हुए पर वास्तवमें वे किसके हुए और हम अपनेको किसका कहें?

रास्तेमें चलते हुए बटोहियोंके समान ही हमारा स्त्री, बन्धु और सुहृद्गणसे समागम हो जाता है। अत: विवेकी पुरुषको अपने मनमें यही विचार करना चाहिये कि—'मैं कहाँ हूँ? कहाँ जाऊँगा? कौन हूँ, यहाँ किस कारणसे आया हूँ और किसलिये किसका शोक करूँ? यह संसार अनित्य है और चक्रके समान घूमता रहता है। इसमें माता-पिता, भाई और मित्रोंका समागम रास्तेमें मिले हुए बटोहियोंके समान है। ☞ जन्म लेनेवाले सभी जीवोंके दिन, रात, मास, वर्ष, पक्ष एक बार बीतकर फिर नहीं लौटते। मृत्युका यह लम्बा रास्ता सभी जीवोंको तै करना पड़ता है। अत: ऐसा कोई भी मरणधर्मा मनुष्य नहीं है जिसे कालके वशीभूत होकर इसमेंसे निकलना न पड़े। इस मार्गमें स्त्री आदिके साथ जो समागम होता है वह राहगीरोंके समान कुछ क्षणोंका है। इनमें किसीके साथ मनुष्यका नित्य सहवास नहीं हो सकता। जब अपने शरीरके साथ ही इसका बहुत दिनोंतक सम्बन्ध नहीं रहता तो दूसरे सम्बन्धियोंके साथ तो रह ही कैसे सकता है? आज तुम्हारे बाप-दादे कहाँ गये? अब न तुम उन्हें देखते हो न वे तुम्हें।—अश्मा मुनिने जनकसे यह कहा था।'—(व्यास-युधिष्ठिर-संवाद। शान्तिपर्व)

मृत्यु इस लोकको अत्यन्त ताड़ित कर रही है, जरावस्थाने इसे चारों ओरसे घेर रखा है और अमोघ दिन-रात्रियाँ इसमें नित्य ही आती और चली जाती हैं। मृत्यु मेरे कहनेसे क्षणभर भी नहीं रुकेगी, प्रत्येक दिन व्यर्थ बीता जा रहा है। ऐसी स्थितिमें छिछले जलमें रहनेवाली मछलीके समान कौन बुद्धिमान् सुख मानेगा? कामनाओंकी पूर्तिकी राह मौत नहीं देखेगी।

जो मनुष्य मोहमें डूबा रहता है वही स्त्री-पुत्रके खटपटमें लगा रहता है और कार्य-अकार्य कुछ भी करके उनका पोषण करता है। स्त्री-पुत्रोंमें आसक्ति रखना तो जीवको बाँधनेवाली रस्सीके समान है। सत्यके बिना कोई भी मृत्युकी सेना (जरा, व्याधि आदि) का सामना नहीं कर सकता। अत: असत्यको त्याग देना चाहिये; क्योंकि अमृतत्व सत्यहीमें है। अमृत और मृत्यु ये दोनों ही इस शरीरमें विराजमान हैं। मोहसे मृत्यु होती है और सत्यसे अमरत्व प्राप्त होता है।

पुरुष स्वयं कर्ता होता तो उसे दूसरा कोई उत्पन्न करनेवाला न होता। ईश्वरके सिवा दूसरा कोई कर्ता नहीं। सब तरहके भाव और अभाव स्वभावसे ही आते-जाते रहते हैं, उनके लिये पुरुषका कोई प्रयत्न नहीं होता और प्रयत्नके अभावमें पुरुष कर्ता नहीं हो सकता, फिर भी उसे कर्तापनका अभिमान हो जाता है। यदि पुरुष ही कर्ता होता तो वह अपने कल्याणके लिये जो कुछ भी करता वह सब अवश्य सिद्ध हो जाता, उसे अपने प्रयत्नमें कभी हार नहीं खानी पड़ती। (प्रह्लाद-इन्द्र-संवाद)

शोक करनेसे शरीरको कष्ट होता है और शत्रु प्रसन्न होते हैं। तब शोक क्यों किया जाय? शोकसे दुःख दूर करनेमें कोई सहायता भी नहीं पहुँचती। संताप करनेसे रूप, कान्ति, आयु और धर्म सबका नाश ही होता है। (नमुचि-इन्द्र-संवाद)।

जगत्‌का शासक एक ही है, दूसरा नहीं। पुरुषको जो वस्तु जिस प्रकार मिलनेवाली होती है वह उसी प्रकार मिल ही जाती है। जिस वस्तुकी जैसी होनहार होती है वह वैसी होती ही है। विधाता जीवको जिस-जिस गर्भमें डालता है, वहीं उसे रहना पड़ता है, वह अपनी इच्छाके अनुसार कहीं नहीं रह सकता। जो वस्तु नहीं मिलनेवाली होती उसे कोई मन्त्र, बल, पराक्रम, बुद्धि, पुरुषार्थ, शील, सदाचार और धन-सम्पत्तिसे नहीं पा सकता, फिर उसके लिये शोक क्यों किया जाय? जिनके प्रारब्धमें जितने सुख और दुःखका भोग बदा है उतना ही वह पाता है; जहाँ जानेका प्रारब्ध है वहीं जाता है तथा जो कुछ उसे पाना है उसीको प्राप्त करता है। शोकमें इतनी शक्ति नहीं है कि वह वस्तुको नष्ट होनेसे बचा ले। मनुष्य यदि बहुत बड़ी सम्पत्ति छोड़ न सके तो कम-से-कम उसकी ममताका तो त्याग कर दे। 'यह चीज मेरी नहीं है' यह समझकर अपना कल्याण तो करे। जो वस्तु भविष्यमें मिलनेवाली हो उसे यही मान ले कि 'वह मेरी नहीं है' तथा जो मिलकर नष्ट हो गयी हो उसमें यह भाव रखे कि 'वह मेरी न थी'। प्रारब्ध ही सबसे प्रबल है, वही देता है और वही छीन लेता है।

इस संसारमें हमारे हजारों माँ-बाप और सैकड़ों स्त्री-पुत्रादि हो चुके और आगे भी होंगे। परंतु वास्तवमें किसके वे और किसके हम? मैं तो अकेला ही हूँ, मेरा कोई नहीं और न मैं किसीका हूँ। ऐसा कोई नहीं दिखायी देता जिसका मैं होऊँ या जो मेरा हो। तुम्हें अपने अतीत माता-पितादिसे अब कोई प्रयोजन नहीं और न उन्हें तुमसे कोई प्रयोजन है। वे अपने-अपने कर्मानुसार उत्पन्न हुए थे, तुम भी अपने कर्मोंके अनुसार उत्पन्न हुए हो और अब जैसा कर्म करोगे वैसी ही गति प्राप्त करोगे। इस लोकमें धनीके स्वजन तो स्वजन बने रहते हैं, किंतु दरिद्रोंके स्वजन तो उन्हें जीवित रहनेपर भी छोड़ देते हैं। मनुष्य स्त्री-पुत्रादिके लिये पाप बटोरता है और उसके कारण ही इस लोक और परलोकमें दुःख भोगता है।—(व्यासजी शुकप्रति)

पुरुषको लाभ-हानि, सुख-दुःख, जन्म-मरण और बन्धन-मोक्ष ये सब कालसे ही प्राप्त होते हैं। जो कालके प्रभावको जानता है वह उससे कष्ट पाकर भी शोक नहीं करता। अज्ञानी जन देहसे अपना सम्बन्ध मानते हैं; इसलिये देहका वियोग होनेपर उन्हींको दुःख होता है, किंतु बोधवानोंका निश्चय आत्माकी असंगताके विषयमें निश्चल होता है, इसलिये उन्हें इसे कुछ भी खेद नहीं होता। यह जीव वास्तवमें कभी किसीका कुछ भी नहीं है। यह तो नित्य और अकेला ही है। सुख-दुःखका कारण देह ही है। जब कभी इसे तत्त्वज्ञान हो जाता है तब यह शरीर-सम्बन्धसे छूटकर परम गति प्राप्त कर लेता है। देह पुण्य-पापमय है। कर्मोंके क्षयके साथ इसका भी क्षय होता रहता है। इस प्रकार शरीरका क्षय हो जानेपर जीव मुक्त हो जाता है। पुण्य-पापके क्षयके लिये आत्मज्ञान ही साधन है। (देवल-नारद-संवाद शा० प०)

नोट—३ *'कहे कछुक परमारथ।'* कुछ ही कहा; क्योंकि जगत्‌की मायिक गति कहनेमें ही बहुत परमार्थ भी आ जाता है, उससे बहुत कुछ शान्ति आ ही गयी थी, अधिक समझानेकी आवश्यकता न थी।

पु० रा० कु०—*'नृप कर सुरपुर गवन सुनावा।'*......' इति। (क) मुनि 'ज्ञानी' हैं, समझदार हैं; उन्होंने प्रथम परमार्थका बोध कराके, ज्ञानकी भूमिका बाँधकर सबको दृढ़ करके तब पिताका मरण कहा। *'सुरपुर गवन'* का भाव कि अभीतक थोड़े सुखमें थे, अब बड़े सुखको प्राप्त हैं। (ख)-परमार्थका स्वरूप दिखाकर तब मरण कहा, यह बड़ोंकी रीति दिखायी। सुमन्त्रजीने भी प्रथम परमार्थ कहकर तब रामसन्देश राजाको सुनाया था जिसमें अधिक कष्ट न हो। (ग) *'सुनि रघुनाथ दुसह दुख पावा।'* इति। असह्य दुःख हुआ; क्योंकि जिनको सुखी रखनेके लिये उन्होंने सबका निहोरा लिया, सबसे विनती की [यथा—*'भवन भरत रिपुसूदन नाहीं। राउ बृद्ध मम दुख मन माहीं॥'* (लक्ष्मणसे), *'बारहिं बार जोरि जुग पानी। कहत राम*

सब सन मृदु बानी॥ सोइ सब भाँति मोर हितकारी। जेहि ते रह नरनाह सुखारी॥' (पुरजनोंसे), *'सब बिधि सोइ कर्तव्य तुम्हारे। दुख न पाव नृप सोच हमारे॥'* (सुमन्त्रसे), *'तुलसी करेहु सोइ जतन जेहि कुसली रहहिं कोसलधनी॥', 'गुरसन कहब संदेस बार बार पद पदुम गहि। करब सोइ उपदेश जेहि न सोच मोहि अवधपति॥'* (१५१), *'पुरजन परिजन सकल निहोरी। तात सुनायेहु बिनती मोरी॥ सोइ सब भाँति मोर हितकारी। जातें रह नरनाह सुखारी॥'.........'तात भाँति तेहि राखब राऊ। सोच मोर जेहि करहिं न काऊ॥'* (सुमन्त्रजीने यह संदेशा कहा है)], जिनका शोक दूर करनेपर उद्यत रहे, उनका ही मरण हुआ और अपने ही वियोगके कारण। इस मृत्युके कारण हम ही हुए, हमारे प्रेमके कारण वे वियोग न सह सके, यह समझकर *'अति बिकल'* हुए। मरण सुननेपर 'दुसह दुःख' हुआ और कारण समझनेपर 'अति' व्याकुल होकर अधीर हो गये। धीर व्याकुल नहीं होते, ये धीर-धुरन्धर हैं तो भी व्याकुल हुए। इससे पिताके मरणका अत्यन्त भारी शोक जनाया। (ङ)—*'कुलिस कठोर सुनत कटु बानी।* ....' इति। अर्थात् हृदय विदीर्ण करनेके लिये वज्रसे भी कठोर और सुननेमें कटु। सब घर एक साथ रो उठा; इसीसे कहा कि मानो आज ही मरे। मरनेपर सब एक साथ रोते ही हैं।

नोट—४ *'सुनि रघुनाथ दुसह दुख पावा', 'कुलिस कठोर सुनत कटु बानी', 'भे अति बिकल'*— इन शब्दोंसे (वाल्मी० २। १०३) के **'तां श्रुत्वा करुणां वाचं पितुर्मरणसंहिताम्। राघवो भरतेनोक्तां बभूव गतचेतनः॥ १॥ तं तु वज्रमिवोत्सृष्टमाहवे दानवारिणः। वाग्वज्रं भरतेनोक्तममनोज्ञं परंतपः॥ २॥ प्रगृह्य रामो बाहू वै पुष्पिताङ्ग इव द्रुमः। वने परशुना कृत्तस्तथा भुवि पपात ह॥ ३॥ तथा हि पतितं रामं जगत्यां जगतीपतिम्। कुलघातपरिश्रान्तं प्रसुप्तमिव कुञ्जरम्॥ ४॥'**......' इन श्लोकोंका भाव प्रकट किया है। अर्थात् शोकमय संवाद सुनकर वे बेहोश हो गये, अप्रिय वचन वज्र-से लगे। उन्होंने दोनों हाथ सिरपर रख लिये और परशुसे काटे हुए वृक्षके समान वे पृथ्वीपर गिर पड़े। कुलके नाशसे थके हुए प्रसुप्त हाथीके समान मालूम होते थे। तीनों भाई और सीताजी जलके छींटे देने लगे। होशमें आनेपर वे बहुत ही दयनीय विलाप करने लगे।.......सुमन्त्रके समझानेपर उन्होंने पिण्डदान दिया।

मुनिबर बहुरि राम समुझाए। सहित समाज सुसरित नहाए॥ ७॥
ब्रतु निरंबु तेहि दिन प्रभु कीन्हा। मुनिहुँ कहे जलु काहु न लीन्हा॥ ८॥
दो०—भोरु भये रघुनंदनहि जो मुनि आयेसु दीन्ह।
श्रद्धा भगति समेत प्रभु सो सबु सादर कीन्ह॥ २४७॥

शब्दार्थ—**'भगति'** (भक्ति)=प्रेम, विश्वास।

अर्थ—तब मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजीने श्रीरामजीको समझाया। तब श्रीरामजीने समाजसहित श्रेष्ठ मन्दाकिनी नदीमें स्नान किया॥ ७॥ उस दिन प्रभुने निर्जल-व्रत किया। मुनिके भी कहनेपर किसीने भी जल न ग्रहण किया*॥ ८॥ सबेरा होनेपर रघुनाथजीको मुनिने जो आज्ञा दी, वह सब प्रभुने श्रद्धा और भक्तिसहित आदरपूर्वक किया॥ २४७॥

---

* दूसरा अर्थ—मुनिने भी कहा, इससे जल किसीने न ग्रहण किया'। अर्थात् जब रामजीने निर्जल-व्रत किया तब मुनिने औरोंसे भी कहा कि यही उचित है, सबको निर्जल-व्रत करना चाहिये; अतएव किसीने भी जलतक ग्रहण न किया।

पं० रामकुमारजीने दोनों प्रकार अर्थ किया है। रा० प्र० कार यह भाव लिखते हैं कि मुनिने कहा कि उपवास तो रघुनाथजीको कर्त्तव्य है, तुम्हारे लिये जरूरी नहीं, तुम व्रत न करो तो भी यह समझकर कि हमारे स्वामी निर्जल रहें, हम जलपान करें—यह अयोग्य है, किसीने जलतक न पिया। पंजाबीजीने भी इसी अर्थको प्रधानता दी है। वीरकविजीने इस अर्थपर आक्षेप किया है। वे लिखते हैं कि 'रामजी निर्जल-व्रत करें और ज्ञानी गुरु ऐसे गये-बीते ठहरे कि अयोध्यावासियोंको जलपानका उपदेश दें और पुरजन गुरुके आदेशका तिरस्कार कर निर्जल-व्रत करें। जिन गुरुजीकी आज्ञा रामचन्द्रजी नहीं टाल सकते, उनकी बात पुरवासी न मानें! कैसा गुरुसम्मानका भावपूर्ण अर्थ है।'

वि० त्रि०—*'मुनिबर बहुरि……नहाये'* इति। गुरुजीने पहिले ही समझा-बुझाकर, शोक-समाचार कहनेके लिये तैयार करके तब चक्रवर्तीजीका सुरपुरगमन सुनाया; फिर भी सरकार अत्यन्त विकल हो गये। पुत्रका तो जन्म ही पिताके मरण-दर्शनके लिये होता है, इतनी विकलताका कारण अपने विरहमें प्राणत्याग था। इसी बातसे सब कोई डरते थे कि गुरुजीकी अनुपस्थितिमें रामजीको सँभालेगा कौन? सो गुरुजीने सँभाल लिया, फिरसे रामजीको समझाया।

नोट—१ शीला—फिर 'राम' को समझाया। भाव कि लोक-वेद-रीतिसे नहीं समझाया, किंतु रामस्वरूपहीमें उनको समझाया कि आप सब जीवोंमें रम रहे हैं, आपकी चैतन्यतासे सब जग चैतन्य है, आपके अचेत होनेसे सारा जगत् अचेत हो जायेगा। आप संसारवृक्षकी जड़ हैं, यथा—*'अव्यक्तमूलमनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने'।* जड़के सूखनेसे वृक्ष नष्ट हो जाता है। आपका अवतार जगमङ्गल-हेतु है, आपकी व्याकुलतासे जगत्का अमङ्गल है।'

नोट—२ पं०—*'बहुरि'* का भाव कि एक बार तो सीतासहित रानियोंको समझाया था, अब इनको समझाया कि आपके अधीर होनेसे सब अधीर हो रहे हैं।

शोक-निवारणके लिये उपदेश

स्त्रीपर्वमें विदुरजी धृतराष्ट्र महाराजको समझाते हैं।

१ संसारमें सब जीवोंकी अन्तमें यही तो गति होनी है। जितने सञ्चय हैं उनका पर्यवसान क्षयमें ही होगा। सारी भौतिक उन्नतियोंका अन्त तो पतनमें ही होना है। सारे संयोग वियोगमें ही समाप्त होनेवाले हैं। इसी प्रकार जीवनका अन्त भी मरणमें ही होना है। मृत्यु आनेपर तो कोई नहीं जी सकता। जितने प्राणी हैं वे आरम्भमें नहीं थे और अन्तमें भी नहीं रहेंगे, केवल बीचमें दिखायी देते हैं। जन्मसे पूर्व ये सब अदृश्य थे और सब फिर अदृश्य हो गये हैं। न तो वे आपके थे, न आप उनके हैं। फिर शोक करनेका क्या कारण है?

२ संसारमें बारंबार जन्म लेकर आप हजारों माता-पिता और स्त्री-पुत्रादिका सङ्ग कर चुके हैं। परंतु वास्तवमें किसके वे हुए और किसके आप?

३ कालका न तो कोई प्रिय है, न अप्रिय और न किसीके प्रति उसका उदासीन भाव ही है। वह तो सभीको मृत्युकी ओर खींचकर ले जाता है। काल ही प्राणियोंको बूढ़ा करता है और काल ही उन्हें नष्ट कर देता है। जब सब जीव सो जाते हैं तब भी काल जागता रहता है। निःसन्देह कालसे पार पाना बड़ा ही कठिन है।

४ यौवन, रूप, जीवन, धनका संग्रह, आरोग्य और प्रिय जनोंका सहवास—ये सभी अनित्य हैं। बुद्धिमान्को इनमें फँसना नहीं चाहिये।

५ शोक करनेसे मनुष्य न तो मरनेवालेके साथ जा सकता है और न मर ही सकता है। इस प्रकार जब लोककी यही स्वाभाविक स्थिति है तब शोक किसलिये?

६ मनुष्यको चाहिये कि मानसिक दुःखको विचारसे और शारीरिक कष्टको ओषधियोंसे दूर करे। इसे ही विज्ञानका बल कहते हैं।

७ मनुष्यका पूर्व कृतकर्म उसके सोनेपर सो जाता है, उठनेपर उठ बैठता है और दौड़नेपर भी साथ लगा रहता है। वह जिस-जिस अवस्थामें जैसा-जैसा भी शुभ या अशुभ कर्म करता है, उसी-उसी अवस्थामें उसका फल भी पा लेता है। मनुष्य आप ही अपना बन्धु है, आप ही अपना शत्रु है और आप ही अपने पाप-पुण्यका साक्षी है। वह शुभकर्मसे सुख पाता है और पापसे दुःख भोगता है। इस प्रकार सदा

श्रीप्रज्ञानानन्दजी रा० प्र० कारसे सहमत होते हुए कहते हैं कि 'यहाँ मुनिकी आज्ञाका भङ्ग हुआ ऐसा मानना आवश्यक नहीं। मुनिने धर्मविचार कहा, पर लोगोंने परम धर्मका पालन किया।' यहाँ 'कहे' शब्द आज्ञावाचक नहीं है, उन्होंने शास्त्रका एक मत बता दिया कि इसमें हर्ज नहीं है।

किये हुए कर्मका ही फल मिलता है, बिना कियेका नहीं।

नारद-शुक-संवादमें निम्न उपदेश मिलते हैं

१ शोकके हजारों और भयके सैकड़ों स्थान हैं। वे प्रतिदिन मूढ़ पुरुषोंपर ही अपना प्रभाव डालते हैं। यदि बुद्धि अपने वशमें रहे तो शोक सदाके लिये नाश हो जाय।

२ जो वस्तु भूतकालके गर्भमें छिप गयी उसके गुणोंका स्मरण नहीं करना चाहिये। क्योंकि आदरपूर्वक गुण-चिन्तनसे उसकी आसक्ति नहीं छूटती।

३ जहाँ चित्तकी आसक्ति बढ़ने लगे· उस वस्तुको अनिष्टकारी समझकर उसमें दोषदृष्टि कर लेनी चाहिये। इससे शीघ्र वैराग्य हो जायगा।

४ बीती बातका शोक करना उसके अभावका दुःखमात्र उठाना है, उससे अभाव दूर नहीं होता।

५ गत वस्तुका शोक करना एक दुःखसे दूसरे दुःखको प्राप्त करना है। इस प्रकार शोककर्त्ताको दो अनर्थ भोगने पड़ते हैं।

६ जो संसारकी गतिको विचारता रहता है या जो सबको सम्यक् दृष्टिसे देखता है उसके आँसू नहीं बहते।

७ शारीरिक या मानसिक दुःख आ पड़नेपर यदि उपाय न चले तो चिन्ता न करे। दुःख दूर करनेकी सबसे उत्तम दवा है—'चिन्ता न करना'।

८ रूप, यौवन, जीवन, धनसंग्रह, आरोग्य और प्रियजनोंका सहवास ये सब अनित्य हैं। अतः इनमें आसक्त न हो।

९ जो सुख और दुःख दोनोंकी चिन्ता छोड़ देता है वह अक्षय ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।

१० संग्रहका अन्त विनाश है, ऊपर चढ़नेका अन्त है नीचे गिरना, संयोगका अन्त है वियोग और जीवनका अन्त है मरण। तृष्णाका अन्त नहीं, संतोष ही परम सुख है। अतः संतोष ही परम धन है।

११ जब अपना शरीर ही अनित्य है तब और कौन वस्तु नित्य समझी जाय।

१२ जो मनुष्य मनसे परे परमात्माका ही सब प्राणियोंके भीतर मनसे चिन्तन करते हैं, वे संसारयात्राको समाप्त करके परमपदको प्राप्तकर शोकरहित हो जाते हैं।

१३ जैसे जंगलमें नयी-नयी घासकी खोजमें चरते-फिरते हुए पशुको सहसा व्याघ्र आकर दबोच लेता है वैसे ही कामनाओंकी खोजमें लगे हुए अतृप्त मनुष्यको मौत उठा ले जाती है। इसलिये सबको दुःखसे छूटनेका उपाय सोचना चाहिये।

१४ सबको उपभोगकालमें ही शब्दादि विषयोंमें चिन्तित सुखका अनुभव होता है, उसके बाद उनमें कुछ नहीं रहता। संयोगके पहले कोई दुःख किसीको नहीं होता। जब संयोगके बाद वियोग होता है तभी सबको दुःख होता है। अतएव अपने स्वरूपमें स्थित रहे, कभी शोक न करे।

१५ धैर्यके द्वारा शिश्न और उदरकी, नेत्रद्वारा हाथ-पैरकी, मनद्वारा आँख-कानकी तथा सद्विद्याद्वारा मन और वाणीकी रक्षा करता रहे।

१६ अध्यात्मविद्यामें परायण निष्काम और लोभहीन होकर जो एकाकी विचरता रहता है, वही सुखी और विद्वान् है।—(नारद-शुक-संवाद)

नोट—१ *'श्रद्धा भगति समेत प्रभु……'* इति।—धर्म बिना श्रद्धाके निष्फल है, श्रद्धाके बिना भक्ति-प्रीति-प्रतीति नहीं होती। ये हों तो जो कार्य किया जायगा वह सादर किया जायगा। धर्ममें इन तीनोंकी आवश्यकता है, यथा—*'भूपधरम जे बेद बखानें। सकल करै सादर सुख मानें॥'* (१।१५५।५) *'भगति सहित मुनि आहुति दीन्हें। प्रगटे अगिनि चरू कर लीन्हें॥'* (१।१८९), *'श्रद्धा बिना धरम नहिं होई। बिनु महि गंध की पावइ कोई॥'* (७।९०) श्रद्धा गुरु और श्रुतिवाक्यपर प्रथम हो, तब उनमें प्रेम या विश्वास होता है कि इनसे मनोवाञ्छित सिद्ध होगा, संदेह नहीं। ये दोनों होनेपर कार्यमें मन पूरा लगता है।

पु० रा० कु०—*'प्रभु सो कीन्ह'।* प्रभु हैं, समर्थ हैं, न करें तो इनको दोष नहीं और न इनको शुद्धताकी जरूरत, ये तो स्वयं शुद्ध हैं। पर लोकसंग्रहार्थ करते हैं, इसीसे 'रघुनन्दन' कहा। रघुकुलके आनन्द देनेवाले हैं, यह कुल धर्मात्मा है, गुरुभक्त है।

[भाव यह कि यद्यपि मैं जगत्‌का उपकार करनेके लिये स्वच्छन्दरूपसे ही मनुष्यरूपमें प्रकट हुआ हूँ तथापि मैं श्रेष्ठ धर्मात्मा रघुकुलमें अवतीर्ण होकर यदि कुलोचित कर्मोंका सजग रहकर आचरण न करूँ तो अल्पज्ञ तथा सभी श्रेष्ठ पुरुष जो मेरे आचारको आदर्श मानकर धर्मका निश्चय करनेवाले हैं, सब प्रकारसे यही धर्म है ऐसा मानकर अनुसरण करनेवाले हैं, वे (मेरी देखा-देखी) अपने कर्तव्यका अनुष्ठान न करनेके कारण कर्मत्यागजनित पापसे नरकगामी हो जायँगे। इस प्रकार मैं ही सारी प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँगा। यही भाव गीताके—**'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥** (३। २१), **'यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः। मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥** (३। २३), **'उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्। संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥२४॥** इन श्लोकोंमें है। ऐसा जानकर श्रीरघुनाथजीने पितृकर्म किये।]

पं०—धर्मशास्त्रकी आज्ञा है कि जिस दिन पिता मरे या जिस दिन पिताकी मृत्यु पुत्र सुने उस दिन निराहार व्रत करे। यदि बड़ा पुत्र विदेशमें हो तो दशगात्रादि विधि लघु पुत्र करे, पर सपिण्डीकर्म ज्येष्ठ पुत्रको ही करना चाहिये।

करि पितु क्रिया बेद जसि बरनी। भे पुनीत पातक तम तरनी॥१॥
जासु नाम पावक अघ तूला। सुमिरत सकल सुमंगल मूला॥२॥
सुद्ध सो भयेउ साधु संमत अस। तीरथ आवाहन सुरसरि जस॥३॥

शब्दार्थ—**आवाहन**=मन्त्रद्वारा किसी देवताको अपने निकट बुलानेका कार्य, आह्वान।

अर्थ—वेदोंमें जैसा कहा गया है उस रीतिसे पिताकी क्रिया करके, पापरूपी अन्धकार-(को नष्ट करने-) के लिये सूर्यरूप रामचन्द्रजी पवित्र हुए॥१॥ जिनका नाम पापरूपी रूईके (शीघ्र जला डालनेके) लिये अग्नि है, जिनका स्मरणमात्र सुन्दर मंगलोंका मूल है, वे श्रीरामजी शुद्ध हुए। साधुओंका सम्मत है कि उनका शुद्ध होना ऐसा है जैसा सुरसरिमें तीर्थोंका आवाहन वा वे वैसे ही शुद्ध हुए जैसे तीर्थोंके आवाहनसे गङ्गा॥२-३॥

पु० रा० कु०—१ (क) *'भे पुनीत पातक तम तरनी।'* इति। प्रभुने शुद्ध होनेकी सब क्रियाएँ कीं; तो क्या वे अशुद्ध हो गये थे जो अब उससे शुद्ध हुए? उसीपर ये तीन अर्धालियाँ हैं। वे तो सूर्यरूप हैं। जहाँ सूर्य वहाँ अन्धकार कहाँ? *'तहँ कि तिमिर जहँ भानु प्रकासू'।* इनके तो दर्शनसे पाप नाश होता और लोग पवित्र होते हैं। जो पापनाशक है उसको पाप लगना कैसा? उनका नाममात्र लेनेसे पापसमूह सद्यः भस्म हो जाते हैं, जैसे जरा-सी अग्नि रूईके पर्वतको जला डाले, देर न लगे। (ख)—यहाँ दो बातें कहीं *'पातक तम तरनी'* और *'जासु नाम पावक……सुमंगलमूला'* अर्थात् आप सूर्य हैं, आपका नाम अग्नि है। भाव कि आपका रूप वा दर्शन और आपका नाम दोनों ही पापनाशक हैं। यथा—*'तीरथ अमित कोटि सत पावन। नाम अखिल अघपूग नसावन॥'* (७।९२।२)

श्रीनंगेपरमहंसजी—यहाँ ग्रन्थकारने श्रीरामजीके पुनीत होनेमें सूर्य और अन्धकारका उदाहरण देकर श्रीरामजीका ऐश्वर्य सूचित किया है। *'जथा तम तरनी'* जैसे अन्धकारसे सूर्य पुनीत हो। भाव कि जैसे सूर्यमें अन्धकारका लगना असम्भव है; क्योंकि सूर्य तमारि हैं, तमके अरि हैं; वैसे ही सूर्यरूप श्रीरामजीमें अन्धकाररूप पातक कैसे लग सकता है? कदापि नहीं लग सकता। कर्म करके पातकसे पुनीत होना, यह तो श्रीरामजीकी नरलीला है; क्योंकि वे मर्यादापुरुषोत्तम हैं? वे कर्म करके केवल लोकमर्यादा रखते हैं।

'तीरथ आवाहन सुरसरि जस'

पु० रा० कु०—२ *'सुद्ध सो भयेउ'* अर्थात् जो ऐसा समर्थ है, जिसका नाम ऐसा समर्थ है, वह शुद्ध हुआ! इस प्रसङ्गमें साधुसम्मत ऐसा है कि सर्वतीर्थमयी गङ्गामें जैसे स्नानके समय अन्य सब तीर्थोंका

आवाहन करनेकी रीति है; पर उससे कुछ गङ्गाजी पवित्र नहीं हो जातीं और न उनके पवित्र करनेके लिये आवाहन किया जाता है, वैसे ही कर्म अवश्य करने चाहिये; कुछ अपनेको पवित्र करनेको नहीं, पर इसलिये कि वैसी वेदरीति है। यहाँ राम गङ्गा, क्रियासे शुद्धि, तीर्थ-आवाहनसे शुद्धि, क्रिया-तीर्थ। खुलासा यह कि गङ्गामें तीर्थ-आवाहन कैसा? परन्तु करते हैं; वैसे ही शुद्धरूप राममें कर्मद्वारा शुद्धता कैसी? परंतु कहते हैं कि शुद्ध हुए।

पाँड़ेजी—उनका शुद्ध होना ऐसा है जैसा सुरसरिमें तीर्थ-आवाहन। भाव यह कि तीर्थ आकर गङ्गामें पवित्र हो जाते हैं, कुछ गङ्गाजी उनसे पवित्र नहीं होतीं; इसी प्रकार कर्म करनेसे वे कर्म शुद्ध हो गये, कुछ रामजी उनसे शुद्ध नहीं हुए, वे तो स्वयं शुद्ध हैं और दूसरोंको शुद्ध करनेवाले हैं।

श्रीनंगे परमहंसजी—जैसे तालाबादिमें स्नान करते समय प्रथम हाथमें जल लेकर तीर्थोंका आवाहन किया जाता है। जब तीर्थ आकर उस जलको पवित्र करते हैं अर्थात् जब वह जल तीर्थरूप हो जाता है, तब उसमें स्नान होता है। वैसे ही यदि कोई गङ्गाजीमें स्नान करते समय तीर्थोंके आवाहनद्वारा गङ्गाजलको तीर्थरूप करके स्नान करे तो उसका परिणाम क्या होगा कि उलटे सब तीर्थ ही गङ्गाजीमें आकर पवित्र होंगे, किंतु गङ्गाजीको क्या पवित्र करेंगे; क्योंकि गङ्गाजी तो स्वयं 'सर्वतीर्थमयी' हैं; इसी तरह कर्म भी श्रीरामजीके करनेसे स्वयं शुद्ध हुआ है जैसे सब तीर्थ गङ्गाजीमें आकर स्वयं पवित्र होते हैं।

यहाँतक ग्रन्थकारने श्रीरामजीका कर्म करके शुद्ध होनेमें तीन उदाहरण दिये हैं—(१) सूर्य और अन्धकारका। जैसे सूर्यमें अन्धकार नहीं लग सकता वैसे ही श्रीराममें सूतक नहीं लग सकता। (२) पावक-रूईका भाव कि यदि रूईरूप पातक लगा भी हो तो अग्निरूप राम उसे स्वयं नष्ट करनेको समर्थ हैं। (३) गङ्गाजी और समर्थका इसके भाव ऊपर आ चुके।

पं०—पिताकी क्रिया करके शुद्ध हुए। इसे यहाँ कैमुतिकन्यायसे कहते हैं।

नोट—वाल्मीकीय और अ० रा० से यहाँके क्रममें बहुत अन्तर है। वाल्मीकीय रामायणमें माता आदि सबको छः कोशमें ठहराकर श्रीभरतजी श्रीरामजीके दर्शनके लिये भाईसहित चले। आश्रमका धुँआ देखकर उन्होंने गुरुके पास माताओंको लेकर शीघ्र आनेके लिये सँदेसा भेजा और स्वयं श्रीरामदर्शनके लिये दौड़कर आगे बढ़े। शत्रुघ्नजी साथ ही चले और सुमन्त्र भी। दौड़कर वे रोते-रोते पृथ्वीपर गिर पड़े। श्रीरामजीने दोनोंका आलिङ्गन कर सुमन्त्रजीसे मिले। भरतजीको गोदमें बिठाकर उनसे बहुत प्रश्न किये, जो सर्ग १०० में हैं और जिनमें राजाओं तथा मन्त्रियोंके उचित समस्त कर्तव्योंका वर्णन भरा हुआ है। भरतजीका उत्तर सर्ग १०१ में है जिसमें राज्य ग्रहण करनेकी प्रार्थना है और श्रीरामजीका प्रत्युत्तर है। श्रीभरतजीने अभिषेककी प्रार्थना करते हुए राजाकी मृत्यु कही। अत्यन्त विलापका शोर वहाँतक पहुँचा जहाँ सब ठहरे थे। वे सब वहाँसे दौड़े। इधर श्रीरामजीने पिण्डदान दिया। सब लोग वहाँ पहुँचे, श्रीरामजी सबसे यथायोग्य मिले। तब रानियोंको लेकर श्रीवसिष्ठजी पहुँचे। माताएँ प्रथम मिलीं। तब वसिष्ठजीको देखकर श्रीरामजीने प्रणाम किया। मानसका क्रम इससे सर्वथा विलक्षण है। पहले भरत, शत्रुघ्न और गुह मिले। गुहसे गुरु-आगमन सुनकर श्रीरामजी उनसे मिलते हैं, तब पुरजनों, कैकेयी आदि माताओंसे। आश्रमपर बैठकर गुरुजी जगकी गति कहकर राजाका स्वर्गारोहण कहते हैं·······इत्यादि।

सुद्ध भएँ दुइ बासर बीते। बोले गुर सन राम पिरीते॥ ४॥
नाथ लोग सब निपट दुखारी। कंद मूल फल अंबु अहारी॥ ५॥
सानुज भरतु सचिव सब माता। देखि मोहि पल जिमि जुग जाता॥ ६॥
सब समेत पुर धारिअ पाऊ। आपु इहाँ अमरावति राऊ॥ ७॥
बहुत कहेउँ सब कियेउँ ढिठाई। उचित होइ तस करिअ गोसाँई॥ ८॥

अर्थ—शुद्ध हुए जब दो दिन बीत गये तब प्यारे श्रीरामचन्द्रजी गुरुजीसे प्रीतिपूर्वक बोले॥ ४॥ हे

नाथ! सब लोग कन्द-मूल-फल और जलका ही आहार करनेके कारण सर्वथा दुःख पा रहे हैं॥५॥ भाईसहित भरतको, मन्त्रियों और सब माताओंको देखकर मुझे एक-एक पल युगका-सा जा रहा है॥६॥ अतएव सबोंके समेत आप अवधपुरीको पधारें। आप यहाँ हैं और राजा इन्द्रपुरीमें हैं (अर्थात् अवध राजधानी सूनी पड़ी है, शत्रु आदिका भय है)॥७॥ मैंने बहुत कहा, यह सब ढिठाई की। हे गुसाईं! जैसा उचित हो वैसा आप करें॥८॥

'सुद्ध भएँ दुइ बासर बीते' इति।—

रा० प०—यद्यपि जिस दिन पिताका मरण सुने, उसी दिनसे दस दिनतक सूतक मानना धर्म है तथापि पिताकी योग्यता जितनी अधिक हो उतने ही सूतकके दिन न्यून हो जाते हैं; इसीसे संन्यासीका सूतक होता ही नहीं, वह शुचि ही माना जाता है। ब्राह्मणमें १० दिन, शूद्रोंमें एक मास इत्यादि सूतक मानते हैं।

नोट—१ *'सुद्ध भएँ दुइ बासर बीते'*— शुद्ध होनेपर दो दिन बीत गये तब। इस उल्लेखसे सबके मतकी रक्षा की। जिसका जो मत है वैसा माल ले। १० दिनके पश्चात् दो दिन और, अथवा जिस दिन सब क्रिया की उसीसे दो दिन और बीतनेपर तीसरे दिन। बैजनाथजी लिखते हैं कि वैशाख शु० १४ को शुद्ध हुए। पूर्णिमा-प्रतिपदाके पश्चात् द्वितीयाकी यह बात है। वै० शु० १३ को निर्जल रहे। (ख) *'पिरीते'* के दोनों अर्थ हैं—प्यारे और प्रीतिपूर्वक।

नोट—२ *'कंद मूल फल अंबु अहारी'* इति। अर्थात् यहाँ यही आहार है। पूर्व कहा था कि *'पय अहार फल असन एक निसि भोजन एक लोग।'* भाव यह कि ये मुनि नहीं हैं और भोजन मिल रहा है मुनियोंका; इससे ये सब लोग दुःखी हैं। मुनियोंका दुःखी होना नहीं कहा। 'सब लोग' कहा और इसमें वे भी आ जाते हैं। (पु० रा० कु०)

नोट—३ *'सब समेत पुर धारिअ पाऊ'* इति। निषादने कहा था, *'नाथ साथ मुनिनाथ के.........'*; अतएव उनसे ही कहते हैं कि *'सब समेत'* पुरको पधारिये। पुनः, पिताके न रहनेपर अब ये ही उनकी जगह हैं। गुरु हैं, अब ये ही सबके रक्षक हैं—*'गुरु प्रभाउ पालिहि सबहिं।'* (३०५) पुनः, *'सब समेत'* का भाव कि सत्यसंकल्पव्रत न छुड़ाइये, विशेष उदासीनकी आज्ञा है, सबके साथ रहनेकी नहीं, अतः सबको लेकर जाइये। *'आपु इहाँ अमरावति राऊ'* में व्यंगसे जनाया कि पुरीमें कोई रक्षक नहीं, न राजा, न राजगुरु; वह अनाथ पड़ी है, सूनी छोड़ना कब उचित है? (पु० रा० कु०)

नोट—४ *'बहुत कहेउँ सब कियेउँ ढिठाई।.........'* इति। इतना कहकर निकल गये, चुप हो रहे कि बड़ोंसे इतनी धृष्टता न करनी चाहिये थी, बड़ी धृष्टता हुई जो इतना कहा, जो उचित समझिये वही कीजिये, अब और ढिठाई करना महा अयोग्य है। *'गोसाँई'* अर्थात् मैं आपके अधीन हूँ। आप स्वामी, मैं सेवक और *'आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा।'*

दो०—धर्मसेतु करुनायतन कस न कहहु अस राम।
लोग दुखित दिन दुइ दरस देखि लहहि* बिश्राम॥२४८॥
रामबचन सुनि सभय समाजू। जनु जलनिधि महुँ बिकल जहाजू॥१॥
सुनि गुर गिरा सुमंगलमूला। भयेउ मनहु मारुत अनुकूला॥२॥

अर्थ—राम! तुम धर्मके सेतु और करुणाधाम हो। भला, तुम ऐसा क्यों न कहो? अर्थात् ऐसा कहना तुम्हारे लिये योग्य है। पर लोग दुःखित हैं, दो दिन आपका दर्शन करके विश्राम पा रहे हैं और

* राजापुरमें 'लहहुँ' पाठ है। भा० दा० में 'लहहिं'। गौड़जीका सम्मत है कि शुद्ध पाठ 'लहहिं' है, 'लहहु' लेख प्रमाद है।

पावेंगे॥ २४८॥ श्रीरामजीका वचन सुनकर समाज भयभीत हो गया, मानो समुद्रमें जहाज (डूबनेके भयसे) व्याकुल हो॥ १॥ पर गुरुके सुन्दर मङ्गलमूल-वचन सुनकर मानो पवन अनुकूल हो गया॥ २॥

नोट—१ *'धर्मसेतु करुनायतन कस न कहहु अस·······'* इति।—*'धर्मसेतु'*=धर्मके पुल। पुल बँधनेसे सब उसके आधारपर पार होते हैं, वैसे ही आप धर्मके सेतु हैं, सब धर्मोंके आधारभूत आप हैं, आपके ही आश्रयसे लोग चलते हैं और धर्मपर चलेंगे। हमको मानते हो, हमारा संकोच करते हो, वनवास-दुःख उठाते हो; पर यहाँ भी पिताकी आज्ञा और गुरुशिष्यसम्बन्धकी मर्यादा पालते जाते हो। लोगोंके दुःखको समझते हो और उनके दुःखसे दुःखी होते हो, क्योंकि करुणायतन हो।

नोट—२ *'लोग दुखित दिन दुइ दरस देखि लहहुँ बिश्राम'* इति। इसका अर्थ वीरकविजीने यह किया है कि 'लोग दुःखी हैं, पर दो दिनसे आपके रूपको देखकर मैं चैन पा रहा हूँ'; पर पं० रामकुमारजी और पंजाबीजी आदिका मत यह नहीं है। आगे विरोध पड़ता है। दूसरे यहाँ लोगोंके दुःख और विश्रामका प्रसङ्ग है, अपना नहीं। *'लहहुँ'* का अर्थ है यहाँ *'लहहिं, लहैं'*। पूर्व इसके उदाहरण दिये गये हैं। भाव यह है कि आप इनको यहाँ दुःखी मानते हैं और अयोध्या जानेमें इनको सुखी समझते हैं, पर इनको वहाँ विश्राम कहाँ? इनको तो आपके दर्शनसे ही विश्राम (सुख) है। वह दर्शन यहीं है। यहाँ रहनेसे सुख पावेंगे, वहाँ जानेसे दुःख, यथा—*'पुरजन परिजन प्रजा गोसाईं। सब सुचि सरस सनेह सगाईं॥ राउर बदि भल भव दुख दाहू। प्रभु बिनु बादि परमपद लाहू॥'* (३१३) अतः, ये दो (कुछ) दिन यहाँ रहकर विश्राम करें। यही बात सुनकर समाज प्रसन्न हुआ, नहीं तो रामजीके वचन सुनकर तो सब निराश हो गये थे।

पु० रा० कु०—*'रामबचन सुनि सभय समाजू·······'* इति। सभय होनेका हेतु यह है कि सबके मनमें अभिलाषा है कि *'राजा राम जानकी रानी। आनँद अवधि अवध रजधानी॥ सुबस बसउ फिरि सहित समाजा। भरतहि राम करहु जुबराजा॥ गुरु समाज भाइन्ह सहित रामराज पुर होउ। अछत राम राजा अवध मरिय माँग सब कोउ॥'* (२७३) इसके प्रतिकूल रामजीके वचन हैं कि सबको लेकर लौट जाइये। कैसे सभीत हुए उसकी उत्प्रेक्षा डूबते हुए जहाजसे करते हैं। जहाज डगमग हो रहा हो, डूबनेको हो तब उसके मुसाफिर (पथिकसमाज) जैसे भयभीत हों वही व्याकुल दशा इनकी हुई। पर जब गुरुके वचन सुने कि दो दिन दर्शन पाकर विश्राम पावें तब वे इन सुमङ्गलमूल (सुख उत्पन्न करनेवाले) वचनोंको सुनकर ऐसे सुखी हुए, मानो डूबते हुए जहाजको अनुकूल वायु मिली और वह बचकर निकल आया, आशा हुई कि पार लगेगा, आनन्द होगा। वा, अनुकूल पवन यह कि जिधर जहाजको लगना चाहिये उसी ओरको पवन चला।

नोट—३ यहाँ समाज जहाज, रामवचन जहाज डुबानेवाली प्रतिकूल वायु, गुरुवचन पवन, सुमङ्गल मूल अनुकूल, समुद्र वियोग—परस्पर उपमेय-उपमान हैं।

वि० त्रि०—श्रीरामजीके वचनको सुनकर सब लोग ऐसे भयभीत हो गये जैसे प्रतिकूल हवा चलनेसे जहाजके डाँवा-डोल होनेपर पथिक विकल होते हैं। भाव यह कि सबने देखा कि ये तो कुछ कहने-सुननेका अवसर ही नहीं देना चाहते। शुद्ध होनेके बाद भी दो दिन तो एकादशाह और द्वादशाहके कृत्यमें ही बीत जाता है, सो कृत्य समाप्त होते ही ये सबको जानेके लिये कह रहे हैं, अब तो लौटनेकी कोई आशा ही नहीं रह गयी, पर गुरुजीके उत्तरने हवा पलट दी, दो दिनका समय कहने-सुननेके लिये मिल गया।

दीनजी—पहले जहाज मस्तूलमें बादबान चढ़ाकर हवाके सहारे चलाये जाते थे।

पावन पय तिहुँ काल नहाहीं। जो बिलोकि अघ ओघ नसाहीं॥ ३॥
मंगलमूरति लोचन भरि भरि। निरखहिं हरषि दंडवत करि करि॥ ४॥
रामसैल बन देखन जाहीं। जहँ सुख सकल सकल दुख नाहीं॥ ५॥
झरना झरहिं सुधा सम बारी। त्रिबिध पात हर त्रिबिध बयारी॥ ६॥
बिटप बेलि तृन अगनित जाती। फल प्रसून पल्लव बहु भाँती॥ ७॥

सुंदर सिला सुखद तरु छाहीं। जाइ बरनि बन छबि केहि पाहीं॥ ८॥

अर्थ—सब लोग पवित्र पयस्विनी एवं पयस्विनी-मन्दाकिनीके पवित्र जलमें त्रिकाल (प्रातः, मध्याह्न और सायं) स्नान करते हैं, जिसके दर्शनसे ही पातकसमूह नष्ट हो जाते हैं॥ ३॥ मङ्गलमूर्त्ति श्रीरामचन्द्रजीको हर्षपूर्वक दण्डवत् कर-करके नेत्र भर-भरके देखते हैं॥ ४॥ श्रीरामचन्द्रजीके पर्वत (चित्रकूट-कामदगिरि आदि) और वनको देखने जाते हैं, जहाँ सभी सुख हैं और सम्पूर्ण दुःख नहीं हैं॥ ५॥ झरने अमृत-समान जल गिराते हैं, तीनों प्रकारकी हवा तीनों तापोंको हर लेती है॥ ६॥ वृक्ष, लताएँ और तृण असंख्यों जातिके हैं, फल-फूल-पत्ते बहुत प्रकारके हैं॥ ७॥ सुन्दर शिलाएँ (चट्टानें पड़ी हैं), पेड़ोंकी छाया सुख देनेवाली है—वनकी छबि किससे वर्णन की जा सकती है? अर्थात् किसीसे नहीं॥ ८॥

नोट—१ चित्रकूटमें अवधवासियोंकी दिनचर्या क्या है, यह कहते हैं। नोट—२ *'भरि भरि', 'करि करि'* बहुवचन है, बहुत लोग हैं, सब अपनी-अपनी दण्डवत् करते हैं और सब नेत्र भर-भर अच्छी तरह दर्शन किया करते हैं। पुनः, सब बारम्बार दण्डवत् करते और देखते हैं। दर्शन और दण्डवत्में हर्ष आवश्यक है। हर्ष प्रसन्नता और पुलकाङ्का वाचक है, इससे दण्डवत् करनेवालेकी श्रद्धा-भक्ति सूचित होती है।

नोट—३ '**त्रिबिध**' शीतल, मन्द और सुगन्धित वायु चलती है। *'झरना झरहिं'* इस योगसे पानी शीतल है, शैल और वनकी आड़से आती है, इससे मन्द और फूलों-पत्तोंके योगसे सुगन्धित है, यह दिखानेके लिये प्रथम शैल-वन-झरना-फूल-सब एकत्र कहे तब वायुका चलना कहा। (पु० रा० कु०)

☞ पूर्वके *'जब तें आइ रहे रघुनायकु। तब तें भयउ बनु मंगल दायकु॥ फूलहिं फलहिं बिटप बिधि नाना। मंजु बलित बर बेलि बिताना॥ सुरतरु सरिस सुभाय सुहाए।……त्रिबिध बयारि बहइ सुखदेनी।'* (१३७। ५—८) से मिलान कीजिये।

नोट—४ *'बिटप बेलि तृन……'* —यथासंख्यालङ्कारसे वृक्षमें फल, बेलोंमें फूल, तृणमें पत्ते। अथवा, सबमें सब जैसा उपर्युक्त उद्धरण तथा आगेके *'बेलि बिटप सब सफल सफूला।……जाइ न बरनि मनोहरताई।'* (२७९। ३—५) से सिद्ध होता है। इसी प्रकार लङ्कामें पहुँचनेपर *'सब तरु फरे राम हित लागी। रितु अरु कुरितु काल गति त्यागी॥'* (६। ५। ५) वैसे ही यहाँ भी हुआ। यह सब श्रीरामजीका प्रताप और प्रसाद है। यथा—*'कामद भे गिरि राम प्रसादा।'* (२७९। १) ☞ यहाँ सब सुपास दिखाया। शिला बैठनेको, पेड़ोंकी छाया सुख और विश्रामके लिये, फल खानेको, फूल सूँघनेको, पत्ते दोनोंके लिये, जल पीनेको नेत्रोंको सुख देनेवाली हरियाली घास आदि। *'जाइ न बरनि……'*, यथा पूर्व कहा था—*'कहि न सकहिं सुखमा जस कानन।'* (१३९। ६)

दो०—सरनि सरोरुह जल बिहग कूजत गुंजत भृंग।
बैर बिगत बिहरत बिपिन मृग बिहंग बहु रंग॥ २४९॥

कोल किरात भिल्ल बनबासी। मधु सुचि सुन्दर स्वादु सुधा सी॥ १॥
भरि भरि परनपुटी रचि रूरीं। कंद मूल फल अंकुर जूरीं॥ २॥
सबहिं देहिं करि बिनय प्रनामा। कहि कहि स्वादु भेद गुन नामा॥ ३॥

शब्दार्थ—'**अंकुर**'=अँखुए।=फलोंके कठोर बीजोंके भीतरकी गूदी, जैसे गरी-बादाम-पिस्ता-अखरोट आदिकी भींगी। (दीनजी) '**जूरीं**'=आँटियाँ, गड्डे—(दीनजी)=सूरन आदिके नये कल्ले जो बँधे निकलते हैं=घास-पत्तों या टहनियोंका एकमें बँधा हुआ छोटा पूला, जुट्टी। पाँड़ेजी कहते हैं कि जूरी वह है जिसका अँखुआ खाये होता है, जैसे सूरन आदि। पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी कहते हैं कि जब अङ्कुर कुछ अधिक बड़ा हो जाता है, उसमें पत्ते निकल आते हैं, पर फूटकर पृथक्-पृथक् नहीं हो पाते, उस समय जूरी कहलाते हैं। सूरनकी जूरी उत्तर प्रान्तमें प्रसिद्ध है और खानेके काममें आती है। '**बिगत**'=विरहित, त्यागकर।

अर्थ—तालाबोंमें कमल विकसित हो रहे हैं, जलपक्षी कूजते (मधुर बोली बोलते) हैं, भौंरे गुञ्जार कर रहे हैं, बहुरङ्गके—रङ्ग-विरङ्गके पक्षी-पशु वनमें वैररहित होकर विहार कर रहे हैं॥ २४९॥ मीठे, पवित्र, सुन्दर, अमृत-से स्वादवाले कन्द-मूल, फल, अङ्कुर और जूरीको, सुन्दर दोने बनाकर, उनमें भर-भरकर अथवा, शुचि सुन्दर अमृतका स्वादवाला मधु पत्तोंके सुन्दर बनाये हुए दोनोंमें भर-भरकर और कन्द-मूल-फल-अङ्कुरकी आँटिया बनाकर, कोल-किरात-भील आदि बनवासी लोग विनय और (वा, विनययुक्त) प्रणाम करके और उनके पृथक्-पृथक् स्वाद, भेद, गुण और नाम कहकर सबको देते हैं॥ १—३॥

नोट—१ *'जलबिहग कूजत·······बहुरंग'* इति (क) पूर्व जो *'गुंज मंजुतर मधुकर श्रेनी।·······नीलकंठ कलकंठ सुक चातक चक्क चकोर। भाँति-भाँति बोलहिं बिहग श्रवन सुखद चितचोर ॥१३७॥ करि केहरि कपि कोल कुरंगा। बिगत बैर बिचरहिं सब संगा॥ फिरत अहेर राम छबि देखी। होहिं मुदित मृग बृंद बिसेषी॥'* कह आये हैं। वह इस दोहेकी व्याख्या ही समझिये। वहाँ पक्षियों-पशुओंके नाम दिये हैं; यहाँ 'बहुरङ्ग' से उन सबोंको जना दिया। 'बिहरत' से अन्तिम दो चरणोंका भाव भी सूचित कर दिया है। (ख) *'बैर बिगत बिहरत'*— यहाँ त्रिदेवतकका छल छूट गया तब इनके वैरका छूटना क्या? यथा विनय०—*'जहँ जनमे जगजनक जगतपति बिधि हरि हर परिहरि प्रपंच छल। सकृत प्रबेस करत जेहि आश्रम बिगत बिषाद भए पारथ नल॥'*— (२४)

नोट—२ *'मधु सुचि सुंदर स्वादु सुधा सी'* इति। मीठे हैं। बाजे फल पवित्र नहीं माने जाते, जैसे गाजर, सूरन, कैथा। पर ये पवित्र हैं, देवकार्यमें लाये जा सकते हैं, वैष्णव और मुनि आदि सभी खा सकते हैं। सुन्दर देखनेमें, अमृतसम स्वादमें। अथवा, मधु=शहद।

नोट—३ (क) *'फल अंकुर जूरीं'* इति। रा० प्र० का मत है कि जैसे चना, यव आदिसे अङ्कुर निकलते हैं वैसे फलोंके अङ्कुर। वन्यपदार्थकी जूरी अर्थात् आँटियाँ। भाव कि कंद-मूल-फलकी आँटिया बाँधकर और अङ्कुरको दोनोंमें भर-भरकर विनययुक्त प्रणाम करके देते हैं।

नं० प०—*'मधु सुचि सुंदर·······'* इति। मधु=शहद। यह मधु पवित्र और देखनेमें सुन्दर है, खानेमें अमृत-समान स्वादवाला है (पुटी=दोनैया; छोटा दोना। मधु आज भी कोल-किरात भीलोंके यहाँ मिलता है। वे लोग जंगलोंमेंसे मधुमक्खियोंसे छीनकर घर लाते हैं, स्वयं खाते हैं और बेचते भी हैं। इसलिये मधु जो इनके घरमें था अवधवासियोंको अतिथि जानकर ले आये। यदि कहिये कि 'श्रीरामजीके लिये क्यों नहीं लाये?' तो इसका कारण है कि श्रीराम-लक्ष्मण-सीताजी तपस्वी-वेषमें थे, इसलिये उनके लिये रसकी चीज नहीं लाये। मधु रसमें गिना जाता है। अन्य टीकाकारोंने 'मधु' का अर्थ 'मीठा' किया है; पर इस अर्थमें दो विरोध उपस्थित होते हैं। एक तो यह कि *'स्वादु सुधा सी'* में 'मीठी' अर्थ आ जाता है। अतः मधुका अर्थ मीठा करनेसे पुनरुक्ति होती है। दूसरे, मानसमें 'मधुर' शब्द 'मीठा' के लिये आया है। जैसे *'तात मधुर फल खाहु', 'सुचि फल मूल मधुर मृदु जानी'* इत्यादि। यहाँ शुचि, सुन्दर, स्वादु, सुधा-सी ये सब 'मधु' के विशेषण हैं, कन्द-मूलके विशेषण नहीं हैं। जब श्रीरामचन्द्रजीके आनेपर कन्द-मूल-फल लाये थे तब भी कोई विशेषण न दिये थे, यथा—*'कंद मूल फल भरि भरि दोना। चले रंक जनु लूटन सोना॥'* (१३५। २) वैसे ही यहाँ भी कन्दादिके लिये कोई विशेषण नहीं दिये। *'भरि भरि परनपुटी रचि रूरीं'* यह चरण *'मधु सुचि सुंदर स्वादु सुधा-सी'* के साथ है। 'मधु' को दोनामें भरकर लाये। पुटी और जूरी दोनोंको कन्द-मूल-फल अङ्कुरके साथ लेकर मानस-पीयूषमें यह अर्थ किया है कि 'कन्द-मूल, फल, अङ्कुरके आँटियोंको सुन्दर दोने बनाकर उनमें भर-भरकर', जिसका मतलब यह हुआ कि प्रथम कन्दादिकी आँटियाँ बनायी गयीं तब दोनोंमें भर-भर रखा गया। तो प्रश्न होता है कि कन्दादि दोनामें खुले नहीं रखे जा सकते थे कि जो आँटिया बनाकर रखे गये? इसलिये 'मधु' को 'पुटी' के साथ और 'जूरी' को कन्दादिके साथ लेकर अर्थ करनेसे ही विरोध मिटेगा। श्रीरामजीके लिये कन्दादि दोनामें लाये; क्योंकि वे तीन ही मूर्ति थे और भरतजीके साथ सब अवधवासी हैं, इसलिये आँटिया

बाँध-बाँधकर लाये। जब बहुत-सी चीजें एक साथ बाँधी जाती हैं तो उसको 'बोझा' कहते हैं। 'बोझे' का तीसरा या चौथा हिस्सा 'जूरी' या आँटिया कहलाता है। (नं० प०)

(नोट)—यही अर्थ मानसाङ्क और सि० ति० ने ग्रहण किया है। श्रीत्रिपाठीजी, पाँड़ेजी और श० सा० ने 'जूरी' का जो अर्थ दिया है उसमें 'पुटी' और 'जूरी' के एक साथ लेनेमें जो अड़चन बतायी गयी है वह नहीं रहती है।

नोट—४ *'कहि कहि स्वादु भेद गुन नामा'* इति। स्वाद खट्टा, मीठा, कड़ुवा, खटमिट्ठा आदि; भेद कि कौन खट्टा, कौन कहाँका इत्यादि एवं जातिका भेद कि यह कन्द है, यह मूल है……; गुण पित्त, वात या कफनाशक आदि; नाम तेंदू, पियार (छिलकासहित चिरौंजी), कटार आदि। (रा० प्र०)

श्री प्र० स्वामीजी कहते हैं कि स्वाद, भेद, गुण और नाम बतानेका कारण यह है कि ये सब वन्य फल-मूलादि हैं, नगरके लोग इनसे परिचित नहीं होंगे। पुनः भाव कि गुण और स्वादादि सुनकर ग्रहण करनेकी रुचि उत्पन्न कर रहे हैं। ग्रहण करनेसे सेवा सफल होगी, हम बड़भागी होंगे। ये भाव आगे वे स्पष्ट कह रहे हैं।

नोट—५ *'रामसैल बन देखन जाहीं'* से *'बैर बिगत बिहरत……'* २४९ (५) से २४९ तक वन और शैलकी शोभा कही। २५० (१) से *'कोल किरात……'* का प्रेम और सेवा वर्णन करते हैं। छंद २५१ तक यही प्रसङ्ग है।

देहिं लोग बहु मोल न लेहीं। फेरत राम दोहाई देहीं॥४॥
कहहिं सनेह मगन मृदु बानी। मानत साधु पेम पहिचानी॥५॥
तुम्ह सुकृती हम नीच निषादा। पावा दरसनु राम प्रसादा॥६॥
हमहिं अगम अति दरसु तुम्हारा। जसु मरु धरनि देवधुनिधारा॥७॥
राम कृपाल निषाद नेवाजा। परिजन प्रजउ चहिअ जस राजा॥८॥

दो०—येह जियँ जानि सँकोचु तजि करिअ छोहु लखि नेहु।
हमहिं कृतारथ करन लगि फल तृनु अंकुर लेहु॥२५०॥

शब्दार्थ—'मानत'=ग्रहण करते हैं, अङ्गीकार करते हैं, लेते हैं—*'मानौं एक भगति कर नाता'*।— देखिये २६५ (७) भी *'मानत राम सुसेवक सेवा।'* *'नेवाजा'*— निवाजिश, निवाखतन फारसी शब्द है, उससे निवाजना हिंदी क्रिया बना ली गयी है। निवाजना=अनुग्रह या कृपा करना, यथा—*'नाम गरीब अनेक निवाजे'*, *'कायर कूर कपूतन की हद तेउ गरीब निवाज निवाजे'*। 'दुहाई देना'—संकट या आपत्ति आनेपर रक्षाके लिये पुकारना, अपने बचावके लिये किसीका नाम लेकर चिल्लाना।

अर्थ—श्रीअवधके लोग फल आदिका बहुत दाम देते हैं (पर) वे नहीं लेते और लौटानेमें श्रीरामजीकी दुहाई देते हैं॥४॥ प्रेममें डूबे हुए वे कोमल वाणीसे कहते हैं कि साधु प्रेम पहिचानकर मानते हैं वा, सज्जनलोग तो एक प्रेमकी ही पहिचान (चिन्हारी) को मानते हैं (अर्थात् गुण, जाति आदिसे नहीं मानते हम तो प्रेमके मारे आपको देते हैं तब तो आपको लौटाना उचित नहीं)॥५॥ आप धर्मात्मा हैं, हम नीच (हैं; उसपर भी) निषाद (हिंसक जाति) हैं। श्रीरामजीकी प्रसन्नता एवं कृपासे ही आपका दर्शन पाया॥६॥ हमको आपलोगोंका दर्शन बड़ा दुर्लभ है, जैसे मारवाड़ देशको गङ्गाजीकी धारा (दुर्लभ)॥७॥ कृपालु श्रीरामजीने निषादपर कृपा की, जैसा राजा है वैसा ही उसके परिजन और प्रजाको भी होना ही चाहिये (अर्थात् आपको भी हम सबपर कृपा करनी चाहिये)॥८॥ ऐसा हृदयमें जानकर संकोचको छोड़कर हमारा प्रेम देखकर कृपा कीजिये और हमको कृतार्थ करनेके लिये फल-तृण-अङ्कुर लीजिये॥२५०॥

नोट—१ *'राम दोहाई देहीं'* अर्थात् आप बड़ी अनीति करते हैं, श्रीरामजीकी दुहाँई है, वे हमारी रक्षा करें एवं आपको श्रीरामजीकी शपथ है ऐसा न कीजिये। दोनों भाव 'दोहाई' में हैं।

टिप्पणी—१ पु० रा० कु०— *'मानत साधु पेम पहिचानी'* इति। सज्जन प्रेम पहचानकर मानते हैं,

हममें प्रेम हो तो लीजिये।—'*सुर साधु चाहत भाउ सिंधु कि तोष जल अंजलि दिए।*' (१। ३२६) '**अपांनिधिं वारिभिरर्चयन्ति दीपेन सूर्यं परिबोधयन्ति। ताभ्यां तयोः किं परिपूर्णतास्ति भक्त्यैव तुष्यन्ति महानुभावाः॥**'

टिप्पणी—२ '*हम नीच निषादा। पावा दर्शन*.......'। भाव कि हम हैं तो बड़े नीच हिंसक लोग; पर आपके दर्शनसे हम भी सुकृती हो गये। '*राम प्रसादा*', यथा—'*बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता*', '*जब द्रवैं दीनदयाल राघव साधु संगति पाइये।*' (वि० १३६)

टिप्पणी—३ '*जसु मरुभूमि देवधुनिधारा*' अर्थात् जहाँ एक जलाशय नहीं, साधारण जल भी दुर्लभ, वहाँ नदी और वह भी देवनदीकी धारा ही पहुँच जाय जो पीनेमें सुखद और अन्तमें सद्गति देनेवाली है तो उनके पुण्योदयका क्या कहना, उनको तो दर्शन भी दुर्लभ था। वैसे ही हमको एक भी साधु सुकृतीका दर्शन दुर्लभ था, यहाँ सब अवधवासियोंका घर बैठे दर्शन हो यह 'रामप्रसाद' से।

टिप्पणी—४ '*राम कृपालु निषाद नेवाजा। परिजन प्रजउ*.......' इति। दूसरा अर्थ यह है कि रामजीने निषादराजको नेवाजा, राम राजा हैं। आप परिजन औरं प्रजा हैं और हम निषादकी प्रजा हैं, अतएव आप हमपर कृपा करें। (रा० प्र०)

तुम्ह प्रिय पाहुने बन पगु धारे। सेवा जोगु न भाग हमारे॥ १॥
देब काह हम तुम्हहि गोसाँई। ईंधनु पात किरात मिताँई॥ २॥
एह हमारि अति बड़ि सेवकाई। लेहिं न बासन बसन चोराई॥ ३॥
हम जड़ जीव जीवगन घाती। कुटिल* कुचाली कुमति कुजाती॥ ४॥

शब्दार्थ—**पाहुन** (सं० प्राघूर्ण)=मेहमान, अतिथि। (**ईंधन**=जलानेकी लकड़ी। **पात**=पत्ते, पत्तल। **बासन**=बर्तन, पात्र। **घाती**=घातक, हिंसक, मारनेवाले।

अर्थ—आपसे प्यारे मेहमान वनमें पधारे (आये), आपकी सेवाके योग्य हमारे भाग्य ही नहीं हैं॥ १॥ हे गुसाईं! हम आपको क्या देंगे? (अर्थात् कुछ भी देने योग्य नहीं हैं, न दे सकते हैं)। किरातोंकी मित्रता (तो बस) ईंधन और पत्तेकी है अर्थात् इनसे मित्रता हुई तो इनसे यही भर मिल सकता है॥ २॥ हमारी अत्यन्त बड़ी सेवा यह है कि वस्त्र और बर्तन चुरा न लें॥ ३॥ हम जड़ जीव हैं, जीवोंकी हिंसा करनेवाले हैं, कुटिल, कुचाली, दुर्बुद्धि और कुजाति हैं॥ ४॥

पं०—'*तुम्ह प्रिय पाहुने बन पगु धारे।*' भाव यह कि जिसके घर कोई अतिथि आवे उसको अतिथिकी सेवा-सत्कार अवश्य करना चाहिये। पर हमारा दुर्भाग्य है कि आपकी सेवा योग्य नहीं। जो कुछ है वही अर्पण करते हैं। दूसरे हमको और सेवाका अधिकार भी नहीं, ईंधन-पत्ते छोड़ हमारी छुई वस्तु आप ले नहीं सकते।

पु० रा० कु०—(क) '*सेवा जोग न भाग*' अर्थात् न अधिकार ही है और न आपकी सेवाके योग्य हमारे पास विभूति है। सेवा की भरद्वाजने। (ख) '*जीवगन घाती*' अर्थात् एक प्राणकी हिंसा बड़ा पाप है और हम निरे जीवोंको नित्यप्रति मारते हैं तब हमारी अधमताका ठिकाना क्या?—'*हिंसापर अति प्रीति तिन्हके पापहि कवनि मिति।*' (१। १८३) माण्डव्य ऋषिने लड़कपनमें अबोध अवस्थामें एक कीड़ेको मारा था उसका फल हुआ कि छुरीसे मारे गये, हमारी न जाने क्या गति हो। स्वभावसे कुटिल, चाल कुत्सित। जैसी जाति वैसी बुद्धि, दुर्बद्धिसे कुचाल कर्म व्यवहार, उससे स्वभाव भी वैसा ही कुटिल हो गया। हिंसा करते-करते जड़वत् निर्दयी कठोर हृदय हो गये।

वै०—'*जड़*', यथा—'**इष्टं वानिष्टं वा सुखदुःखे वा न चेह यो मोहाद् विन्दति परवशगः स भवेदिह जडसंज्ञकः।**' अर्थात् जिसे मोहके वश हानि-लाभ, सुख-दुःखका विचार नहीं रह जाता वह जड़ है।

* कुटिक—(ल० सीताराम)।—यह अशुद्ध छपा जान पड़ता है।

पाप करत निसि बासर जाहीं। नहिं पट कटि नहिं पेट अघाहीं॥५॥
सपनेहुँ धरम बुद्धि कस काऊ। येह रघुनंदन दरस प्रभाऊ॥६॥
जब तें प्रभु पद पदुम निहारे। मिटे दुसह दुख दोष हमारे॥७॥
बचन सुनत पुरजन अनुरागे। तिन्ह के भाग सराहन लागे॥८॥

अर्थ—पाप करते ही हमारे दिन-रात बीतते हैं (तो भी) न कमरमें कपड़ा है और न पेट ही भरता है॥५॥ स्वप्नमें भी कभी धर्मबुद्धि कैसी? (जो आपको विनय-प्रणाम करते हैं, फल-फूल लाये, आपकी चोरी या हिंसा न की, इत्यादि धर्मबुद्धि हुई, अधर्म छूटा) यह सब श्रीरघुनाथजीके दर्शनका प्रभाव है॥६॥ जबसे प्रभुके पदकमल देखे तबसे हमारे दुःसह दुःख-दोष दूर हुए॥७॥ किरातोंके प्रेमपूर्ण वचन सुनकर पुरजन प्रेममें भर गये और उनके भाग्यकी बड़ाई करने लगे (धन्य हैं इनके भाग्य, चार दिनमें इनको इतना प्रेम हो गया, हम राजकुमार ही समझते रहे, हममें यह प्रेम नहीं)॥८॥

टिप्पणी—१ पु० रा० कु० *'नहिं पट कटि नहिं पेट अघाहीं।'* दिन-रात हिंसा करते हैं तो बहुत कुछ कमाकर धर लिया हो सो भी नहीं, इतना पाप करनेपर भी कमरमें भी लपेटनेभरका वस्त्र नहीं और पेटभर भोजन नहीं मिलता। (नोट—अबतक भीलोंकी यह दशा है। जबसे फौज आदिमें भरती हुई तबसे अब वस्त्र पहनने लगे, नहीं तो नंगे रहते थे, बहुत हुआ तो घास आदिसे गुप्ताङ्गभर ढक लेते थे)।

टिप्पणी—२ *'मिटे दुसह दुख दोष हमारे।'* अर्थात् स्वभाव छूट गया, सरलता आ गयी। वा, जीवघात-दोष और पेट न भरनेका दुःख दूर हुए। कंगालको दुःख होता ही है। इससे बढ़कर दुःख नहीं—*'नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं।'* (७। १२१। १३)। वह दरिद्रता मिट गयी। (पां० रा० प्र०) कारण-कार्य दोनों मिटे। पाप कारण और दुःख कार्य्य है, यथा—'*करहिं पाप पावहिं दुख*……। ७। १००।'

छं०—लागे सराहन भाग सब अनुराग बचन सुनावहीं।
बोलनि मिलनि सिय-राम-चरन सनेहु लखि सुखु पावहीं॥
नर नारि निदरहिं नेहु निज सुनि कोल भिल्लनि की गिरा।
तुलसी कृपा रघुबंसमनि की लोह लै लोका* तिरा॥

सो०—बिहरहिं बन चहुँ ओर प्रतिदिन प्रमुदित लोग सब।
जल ज्यों दादुर मोर भये पीन पावस प्रथम॥२५१॥

शब्दार्थ—'**लोका**' (लावुक)=तूँबी, कद्दू; यथा—'*भइ मूजीलौका परबती रौंता कीन्ह काटि कैरती।*' (जायसी) गी० प्रे० ने इसका अर्थ 'नौका' किया है। 'तिरा' (सं० तरण)=तैरना, तरना, पानीपर ठहरना वा उतराना, पार होना। '**पावस**' (प्रावृष) वर्षाकाल।

अर्थ—सब लोग किरातोंके भाग्यकी सराहना करने लगे और प्रेमके वचन सुना रहे हैं। उनकी बोलचाल और मिलनसारी और श्रीसीतारामचरणानुराग देखकर सुख पा रहे हैं। कोलभीलोंकी वाणी सुनकर स्त्री-पुरुष (सभी) अपने प्रेमका निरादर करते हैं। (निन्दित, धिक्, तुच्छ मानते हैं)। तुलसीदासजी कहते हैं कि यह रघुकुलशिरोमणि रामचन्द्रजीकी कृपा है कि लोहा तोंबेको लादकर तैर रहा है। सब लोग परम

* 'लोका' राजापुर। 'नौका'—आधुनिक प्रतियोंमें। श्रीनंगे परमहंसजी लिखते हैं कि 'लोका' पाठ दूषित है; क्योंकि यहाँ श्रीरामजीके प्रेमका प्रसङ्ग है। लोहेको लेकर जलसे पार जानेका काम 'नौका' का है न कि तुंबाका। नौका स्वयं पार जाती है तथा औरोंको पार करती है, वैसे ही श्रीरामजीके प्रेमी स्वयं तरते और दूसरोंको तारते हैं। इसी तरह अवधवासी स्वयं पार जायँगे और उन्हींके प्रेमसे दूसरे भी पार जायँगे—ऐसे अवधवासियोंको 'तुंबा' की समता करनी कितने भारी अपचारकी बात है। ऐसा करना ग्रन्थकारकी कीर्तिमें दोष लगाना है।

आनन्दित होकर वनमें चारों ओर घूमते हैं और बड़े ही आनन्दित हैं, जैसे वर्षा-ऋतुकी पहली ही वर्षा-के जलसे मेंढक और मोर मोटे हो जाते हैं (आनन्दसे फूल उठते हैं और विचरते हैं)॥ २५१॥

नोट—१ *'बोलनि मिलनि*……' इति। बोल-चालका ढंग, यथा—*'कहहिं सनेह मगन मृदु बानी। मानत साधु प्रेम पहिचानी*……', *'हमहि कृतारथ करन लगि फल तृन अंकुर लेहु'* । (दोहा २५० से २५१) (६) तक। मिलनसारी, यथा—*'मधु सुचि सुंदर स्वादु सुधा सी।*……*फेरत राम दोहाई देहीं।'* (२५०। १-४) सियरामचरण-स्नेह, यथा—*'येहु रघुनंदन दरस प्रभाऊ॥ जब तें प्रभुपद पदुम निहारे। मिटे दुसह दुख दोष हमारे॥'* वस्तुत: ये तीनों प्रसङ्गभरमें हैं।

नोट—२ *'नर नारि निदरहिं नेहु निज*……' इति।—जैसे निषादोंने अपनी निन्दा और इनकी बड़ाई की वैसे ही ये उनकी बड़ाई और अपनी निन्दा करते हैं। हममें प्रेम होता तो क्या हमको छोड़कर यहाँ तुम लोगोंमें आकर रहते, तुम्हारा प्रेम बढ़ा-चढ़ा है, बड़े सुकृती हो, तुम्हारे दर्शनसे हम लोग कृतार्थ हुए। पंजाबीजी लिखते हैं कि अपनेको न्यून मानते हैं कि हम वर्ण, कर्म, धर्म आदिसे उत्तम हैं तो भी हम श्रीरामजीको राजकुमार ही मानते रहे और ये सब भाँति नीच थे सो इनको थोड़े ही दिनोंमें इतना प्रेम हो गया कि इनके वचन सुनकर हमको प्रभुमें विशेष प्रेम-प्रतीति हुई।

* 'लोह लै लोका तिरा' *

वै०, रा० प्र०, पु० रा० कु०—जो अवधवासी कृतार्थरूप हैं, जिनके दर्शनसे अन्य जीव तर जाते हैं, वे कोल-भीलोंके प्रेमको देखकर अपनेको कृतार्थ मानकर उनके भाग्यकी प्रशंसा, उनके प्रेमकी प्रशंसा करते हैं, उनके प्रेमको देखकर सुख पा रहे हैं, अर्थात् दुष्टात्मा हिंसक निषादोंके प्रेमको देखकर अवधवासियोंमें प्रेम बढ़ा; यद्यपि होना चाहिये था कि इनके प्रेमको देखकर निषादोंमें प्रेम बढ़ता, ऐसा न होकर यहाँ उलटा ही हुआ। इसीका दृष्टान्त असङ्गति अलङ्कारद्वारा देते हैं। उससे दिखाते हैं कि प्रभुकी कृपाका क्या प्रभाव है, क्या महत्त्व है, इसे मनमें विचारकर समझिये। [कृपा-प्रताप आदिका प्रभाव मानसमें अन्यत्र भी कहा है। जैसे—*'ता कहँ प्रभु कछु अगम नहिं जा पर तुम्ह अनुकूल। तव प्रताप बडवानलहि जारि सकइ खलु तूल॥'* (सु० ३३), *'प्रभु प्रताप ते गरुड़हि खाइ परम लघु ब्याल।'* (५। १६) *'बूड़हिं आनहिं बोरहिं जेई। भये उपल बोहित सम तेई॥ महिमा यह न जलधि कै बरनी। पाहन गुन न कपिन्ह कै करनी॥ श्रीरघुबीर प्रताप ते सिंधु तरे पाषान। ते मतिमंद जे राम तजि भजहिं जाइ प्रभु आन॥'* (लं० ३) *'जो चेतन कहँ जड़ करइ जड़हि करै चैतन्य। अस समर्थ रघुनायकहि भजहिं जीव ते धन्य॥'* (उ० ११९) *'मसकहि करइ बिरंचि प्रभु अजहिं मसक ते हीन। अस बिचारि तजि संसय रामहिं भजहिं प्रबीन॥'* (उ० १२२) इत्यादि]

लोहा डूब जानेवाली वस्तु है, यही नहीं, वह स्वयं डूबे दूसरेको भी डुबा दे। 'लोका' (बड़े-बड़े लौके) जिनके कमण्डलु बनते हैं और जिनको तूँबी, तितलौकी भी कहते हैं। लोग तैरना सीखते समय इनको कमरमें और पेटमें बाँध लेते हैं जिसमें डूबें नहीं। यह न स्वयं डूबे और न दूसरोंको डूबने दे, बराबर उतराता ही रहता है। लौकेमें लोहेको रख दें तो भी वह तैरता ही रहे, उनका बेड़ा मनों लोहा लादकर नदी पार कर देता है, यह होना ही चाहिये और होता ही है। इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं, न लोहेकी विशेषता है जो सराही जावे। पर यहाँ तो लौकाको अपने ऊपर लेकर तैर रहा है, यह असम्भव कार्य हो रहा है—यह रामजीकी कृपा है।

यहाँ अवधवासी (स्वयं कृतार्थरूप) लौका हैं और कोल-भील लोहा हैं। अपने प्रेमको धिक्कार देना, उनके प्रेमकी प्रशंसा करना और अपनेको कृतार्थ मानना लोहाका लौकाको लेकर उतराना है।

किसी-किसीका मत है कि यहाँ 'रामकृपा लौका है, जो स्वयं तारन-तरन है और लोहासम कोल-भील हैं जो उस कृपासे प्रेमी और शुद्ध स्वभावके हो गये।' पर छन्दसे रामकृपाका लौका होना नहीं पाया जाता, वह लौका और लोहा दोनोंसे पृथक् पदार्थ है, जिसके प्रभावको लौका और लोहके दृष्टान्तद्वारा दिखा रहे हैं।

पुनः, आधुनिक टीकाकारोंने लौकाका अर्थ नाव करके यह अर्थ किया है कि लोहा (नावमें लगा हुआ) नावको लेकर तैरता है, पर कविका यह अभिप्राय नहीं है और न इसमें कुछ लोहेकी विशेषता है।

श्रीनंगे परमहंसजीने 'नौका' पाठ रखा है।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—*'लोह लै लौका तिरा'* इति। *'लोह लै'* का अर्थ है 'लड़ाई करके', यथा—*'सनमुख लोह भरत सन लेऊँ। जिअत न सुरसरि उतरन देऊँ॥'* आजकलके बोलचालमें भी लोहा लेना लड़ाई करनेको कहते हैं। लड़ाई करके जहाजका पार पाना कठिन हो जाता है, लौकाका क्या पार पावेगा? सो रघुवंशमणिकी कृपाका ऐसा प्रभाव है कि अवधवासी ऐसे पण्डित लोगोंसे लड़ाई करके अर्थात् वादविवाद करके लौका स्थानीय वनवासी किरात पार पा गये, उन्हें उनका दिया हुआ कन्द-मूल-फल स्वीकृत करना पड़ा।

नोट—३ *'जल ज्यों दादुर मोर भये पीन पावस प्रथम'* इति। वर्षाका प्रथम जल पाते ही गर्मीसे झुलसे हुए मेंढक मोटे हो जाते हैं, इधर-उधर खूब फुदकते फिरते हैं, मग्न हो टर्र-टर्रकी ध्वनि लगाते हैं और मोरके पक्ष होते हैं वह भी मुटा जाता है और मारे आनन्दके नाचने लगता है, वैसे ही रामविरह-रूपी ग्रीष्मकी तपनसे तपे हुए अवधवासी लोग घनश्यामराम-रूपके दर्शन-जलको पाकर प्रफुल्लित हो गये और वनमें आनन्दपूर्वक विहार करते हैं—उदाहरण तो इतने ही मात्रके लिये है। पर इसमें उपमासे यह भी भाव निकलता है कि जैसे वर्षाके अन्तमें फिर सुख नहीं रह जाता, वैसे ही इनका भी यह सुख बहुत दिनका नहीं है। आगे फिर दर्शन स्थिर नहीं रहेगा; वियोग होगा। यहाँ उदाहरण अलङ्कार है। यह 'प्रथम' पदका भाव है—(पं०, पु० रा० कु०)।

पुरजन* नारि मगन अति प्रीती। बासर जाहिं पलक सम बीती॥ १॥
सीय सासु प्रति बेषु बनाई। सादर करइ सरिस सेवकाई॥ २॥
लखा न मरमु राम बिनु काहूँ। माया सब सिय माया माहूँ॥ ३॥
सीय सासु सेवा बस कीन्हीं। तिन्ह लहि सुख सिख आसिष दीन्हीं॥ ४॥

अर्थ—श्रीअवधपुरवासी पुरुष और स्त्री सभी बड़े प्रेममें मग्न हैं। (अत्यन्त प्रेमके कारण) दिन पलक-समान बीत जाते हैं॥ १॥ प्रत्येक सासुके लिये श्रीसीताजी एक-एक वेष (वा, प्रतिवेषु, इस प्रकार ७०० सासुओंके लिये ७०० रूप हुए) बनाकर उन सबकी आदरपूर्वक एक-सी सेवा करती हैं॥ २॥ श्रीरामजीके सिवा और कोई यह मर्म न (जान) पाया। (क्योंकि) सारी माया श्रीसीताजीकी मायामें (उसके ही अन्तर्गत) है॥ ३॥ श्रीसीताजीने सासुओंको सेवासे वशमें कर लिया और उन्होंने सुख पाकर शिक्षा और आशीर्वाद दिया॥ ४॥

नोट—पुरवासियोंके वन-शैल आदिमें विचरणका प्रसंग जो दोहा २४९ (५) *'राम सैल बन देखन जाहीं'* से उठा था, वह दोहा २५१ *'बिहरहिं बन चहुँ ओर·······'* पर समाप्त हुआ। अब इस दोहेमें सीताजीद्वारा सासुओंकी सेवा कहते हैं।

नोट—१ *'बासर जाहिं पलक सम बीती'* सुखके दिन इसी तरह बीत जाते हैं। इसीसे *'मगन अति प्रीती'* कहकर तब यह कहा। यथा—*'गये बीति कछु दिन येहि भाँती। प्रमुदित पुरजन सकल बराती॥'* (१। ३१२। ४) *'कछुक दिवस बीते यहि भाँती। जात न जानिअ दिन अरु राती॥'* (१। १९७। १)। *'बहुत दिवस बीते एहि भाँती। जनु सनेह रजु बँधे······॥'*

२—*'सादर करइ सरिस सेवकाई'* इति। 'सरिस' का अर्थ है, सदृश, समान, तुल्य। भाव यह है कि जैसी सेवा बहूको सासुकी करनी चाहिये, सासुके योग्य, वैसी ही करती हैं। पुनः, सब सासुओंकी

* राजापुर और पं० रा० गु० द्वि०, रा० प्र० का यही पाठ है। यहाँ, 'जन'=पुरुष, नर। पाठान्तर 'पुरनर' है।

सेवा एक समान, एक-सी करती हैं, किसीकी बहुत, किसीकी कम ऐसा नहीं। देखिये दोहावलीमें कहा है—*'सासु ससुर गुरु मातु पितु प्रभु भयो चहै सब कोइ। होनो दूजी ओरको सुजन सराहिय सोइ॥'* (३९१)॥ ये सबकी बहू बनकर सबकी सेवा कर रही हैं, इसीसे सब वशमें हुईं, सब सुखी हुईं, सबने पति-प्रेम और सौभाग्यवती होनेका आशीर्वाद दिया। पाँड़ेजीने भी 'सरिस' का यही अर्थ किया है।

३*'माया सब सियमाया माहू'*।—(क) जितनी भी संसारमें मायाएँ हैं—देव-देवीमाया, दैत्यमाया, निशाचरीमाया, त्रिदेवमाया इत्यादि—वह सब इन्हींकी मायाके अन्तर्गत हैं। नौ कोटि दुर्गा, अनन्तकोटि देवियाँ सब मायामय हैं। वे सब इन्हींके अंशसे हैं, सबकी मूल ये ही हैं। (पु० रा० कु०) (ख)—प्रत्येक सासु यही समझती रही कि बस हमारी ही सेवामें लगी हुई हैं, दूसरी सासुके पास नहीं गयीं। किसीको यह भेद न मालूम हुआ कि प्रत्येककी सेवामें एक-एक रूपसे हैं। क्यों न जान पाया, उसका कारण कि सब माया इनकी मायाके भीतर हैं। अर्थात् संसारके जितने प्राणी हैं वे सब इनकी मायाके रचे हुए हैं, ये आदिशक्ति हैं, ब्रह्मादिक सब इन्हींकी मायासे उत्पन्न हुए, यथा—*'आदिशक्ति जेहि जग उपजाया।'*, *'जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी।'* (१। १४८। ३)। जिस बातको ये प्रकट न करना चाहें उसे मायारचित प्राणी कब जान सकते हैं। मायाके भीतर पड़ा हुआ जीव कदापि नहीं जान सकता। प्रभु मायासे परे हैं। पुन:, ऐश्वर्यदेशमें श्रीसीतारामजी अभिन्न हैं—*'गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत (वा, देखियत) भिन्न न भिन्न।'* यदि *'राम बिनु'* न कहते तो लोग समझते कि इन्होंने भी न जाना। अभिन्नता एवं ब्रह्मत्वमें संदेह होता। उस भ्रमके निवारणार्थ यह कहा। नहीं तो उनका जानना कहनेकी आवश्यकता न थी।

वि० त्रि०—भगवती जनकनन्दिनी साक्षात् सरकारकी माया हैं, यथा—*'आदि सकति जेहि जग उपजाया। सो अवतरिहि मोर यह माया॥'* तथा—*'सुनु खग प्रबल रामकी माया। जो ज्ञानिहु कर चित अपहरई। बरिआई बिमोह बस करई॥'* अत: सीताजी महामाया हैं। इनके भेदको कौन जान सके, जिसकी माया है, वही जाने। अत: सीताजी उतने वेषोंमें सासुओंकी सेवा कर रही हैं, इस मर्मको सिवा सरकारके और किसीने नहीं लखा। महामायाके अन्तर्गत ही सब मायाएँ हैं; इसलिये *'माया सब सिय माया माहू'* कहा।

प० प० प्र०—जनकपुरमें बारातके आगमनपर तथा अरण्यमें अग्निमें गुप्त होनेके समय भी कहा है कि *'सिय महिमा रघुनायक जानी। हरषे हृदय हेतु पहिचानी॥ बिभव भेद कछु कोउ न जाना। सकल जनक कर करहिं बखाना॥'* (१।३०७।३, २) *'निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता। तैसइ सील रूप सुबिनीता॥ लछिमनहू यह मरम न जाना।'* (३।२४।४-५) वैसे ही यहाँ भी समस्त अनेक रूप प्रतिबिम्बरूप थे।

लखि सिय सहित सरल दोउ भाई। कुटिल रानि पछितानि अघाई॥५॥
अवनि जमहि जाचति कैकेई। महि न बीचु बिधि मीचु न देई॥६॥
लोकहुँ बेद बिदित कबि कहहीं। राम बिमुख थलु नरक न लहहीं॥७॥

शब्दार्थ—'**बीचु**'=अवकाश, रास्ता, दरार, विवर। '**जाचति**'=प्रार्थना करती है, प्राप्त करनेके लिये विनय करती है, माँगती है।

अर्थ—श्रीसीतासहित दोनों भाइयोंको सरलस्वभाव (निष्कपट व्यवहार) देखकर कुटिल रानी कैकेयी भरपूर पछताई॥५॥ कैकेयी पृथ्वी और यमराजसे याचना करती है, पर न तो पृथ्वी रास्ता देती है और न विधाता वा भाग्य मौत देता है॥६॥ वेद और लोकमें भी प्रसिद्ध है और कवि लोग कहते हैं कि रामविमुखको नरकमें भी स्थान नहीं मिलता॥७॥

पु० रा० कु०—*'लखि सिय सहित सरल दोउ भाई।'*......' इति। कैकेयीने देख लिया कि जैसा मन्थराके कहनेमें आकर मैंने इन तीनोंको बुरा-भला कहा था और दोनों भाइयोंको कुटिल समझी थी वह सब झूठ निकला—वे तो सौम्य निष्कपट स्वभाव हैं, वनवास मैंने ही दिया, पर ये मुझसे रंज न मानकर मुझे अपनी माताओंसे अधिक अब भी मानते हैं। अतएव वह अघाकर पछतायी। यहाँ श्रीदशरथजी महाराजके

वचनका चरितार्थ है—यथा वहाँ *'फिरि पछितैहसि अंत अभागी। मारसि गाइ नहारू लागी॥'* (३६। ८)। तथा यहाँ *'कुटिल रानि पछितानि अघाई।'*

* 'अवनि जमहि जाचति कैकेई। महि न बीचु बिधि……' *

यहाँ प्रथम चरणमें पृथ्वीसे और यमराजसे याचना करना लिखते हैं और दूसरे चरणका साधारणतया यह अर्थ होता है कि पृथ्वी बीच नहीं देती और विधि (विधाता) मृत्यु नहीं देते। क्या माँगा, यह प्रथम चरणमें नहीं दिया है। दूसरे चरणसे उसका बोध कर लिया जाता है कि महिसे 'बीच' माँगा, वह बीच नहीं देती, यमसे मृत्यु माँगी पर विधाता मृत्यु नहीं देते। माँगा यमसे और देते नहीं 'विधि' यह कैसा? इसका कारण है कि पूर्व कह चुके हैं—*'हानि लाभ जीवन मरन जस अपजस बिधि हाथ।'* मृत्यु यमराजके हाथ नहीं है। वे तो केवल समयपर पापीको ले जाते हैं, मृत्यु देना न देना, दूसरेके हाथ है। इसीसे पहलेमें यम, दूसरेमें विधि शब्द दिये। इसी असमंजससे 'विधि' का अर्थ 'विधाता' न लेकर 'विधान' अर्थ लेकर भी लोग इस चरणका अर्थ यों करते हैं—'पृथ्वी बीच नहीं देती और मृत्यु 'विधि' (अर्थात् मरणकी व्यवस्था, मरणका विधान) नहीं देती।' मृत्युका अर्थ कोशमें यमराज भी दिया हुआ है। इसी तरह पाँड़ेजीने 'विधि' का अर्थ *'हानि लाभ जीवन……बिधि हाथ'* में किया है और उसीको कतिपय टीकाकारोंने लिया है।

इसी असंगतिके भयसे और प्रकारसे भी अर्थ किये गये हैं—(क) कैकेयी विनती करती है कि 'हे पृथ्वी! बीच क्यों नहीं देती हो? हे यमराज! मुझे मरणका विधान क्यों नहीं देते?' (ख)—(जब वे नहीं देते तब विधिसे कहती हैं) हे विधि! पृथ्वी हमें बीच और यमराज मृत्यु नहीं देते। (ग)—बैजनाथजी एवं रा० प० कार *'अब निज महि'* पाठ लेकर अर्थ करते हैं—'अब कैकेयी अपने अन्तर (हृदयमें) याचना करती है कि भूमि फट जा, मैं समा जाऊँ। वा, विधाता मुझको मृत्यु दे। पर न धरती बीच दे, न विधाता मृत्यु दे'। और दो-एक टीकाकारोंने पाठ बदलकर, 'अब जिय महँ' पाठ रखा है।

गौड़जी—कैकेयी पृथ्वीसे माँगती है कि आप 'अवनी' हैं। रक्षा करनेवाली हैं। मैं अब मुँह दिखाने लायक न रह गयी, मुझे अपनी गोदमें लेकर मेरी रक्षा करो। यमसे कहती है कि 'कर्मोंपर आपका पूरा अधिकार है, आप भाग्यके अनुसार चलानेवाले हैं। किसी ढंगसे मुझे मृत्यु दीजिये।' परंतु पृथ्वी न तो बीच देती है और न भाग्य मृत्यु देता है। विधि, दैव, भाग्य पर्याय हैं। यहाँ भाग्यके अर्थमें 'विधि' शब्द आया है। ब्रह्माके अर्थमें नहीं।

नोट—१ पृथ्वीसे माँगा कि तुम फट जाओ, मैं समा जाऊँ। यमराजसे कहा कि मृत्यु दे दो। जिससे मेरा मुख कोई न देखे। यह पश्चात्तापकी परिपूर्णता वा पराकाष्ठा दिखायी। प्रथम पृथ्वीसे माँगा, क्योंकि इससे मनकी अभिलाषा ठीक-ठीक पूर्ण हो जाती, फट जानेपर तुरंत समा जानेसे एकदम सबके नेत्रोंसे ओझल हो जायँगी। और प्रकार मृत्यु होनेसे कुछ देर शव लोगोंके सामने रहेगी। पर जब पृथ्वीने न दिया तब यमराजसे याचना की यही (अर्थात् मृत्यु ही) सही।

पं० रा० चं० शुक्ल—सब माताओंसे पहले प्रेमपूर्वक राम कैकेयीसे मिले। क्यों? क्या उसे चिढ़ानेके लिये? कदापि नहीं। कैकेयीसे प्रेमपूर्वक मिलनेकी अधिक आवश्यकता थी। अपना महत्त्व या सहिष्णुता दिखानेके लिये नहीं; उसके परितोषके लिये। अपनी करनीपर कैकेयीको जो ग्लानि थी, वह रामहीके दूर किये दूर हो सकती थी और किसीके किये नहीं। उन्होंने माताओंसे मिलते समय स्पष्ट कहा था कि *'अंब ईस आधीन जग काहु न देइय दोषु।'* कैकेयीको ग्लानि थी या नहीं, इस प्रकारके संदेहका स्थान गोस्वामीजीने नहीं रखा। स्वभावगत भी होती तो भी रामकी सरलता और सुशीलता उसे कोमल करनेमें समर्थ थी—*'लखि सियसहित सरल दोउ भाई……'*।☞जिस समाजके शीलसंदर्भकी मनोहारिणी छटाको देख वनके कोल-किरात मुग्ध होकर सात्त्विकवृत्तिमें लीन हो गये, उसका प्रभाव उसी समाजमें रहनेवाली कैकेयीपर

कैसे न पड़ता?—'*भये सब साधु किरात किरातिनि राम दरस मिटि गइ कलुषाई॥*' (गी० २। ४६) (वैसे ही कुटिल पापिनी किरातिनीरूप कैकेयीको श्रीरामकी सरलता और शीलने सात्त्विक बना दिया, जिससे उसके हृदयमें अपनी करनीपर अत्यन्त ग्लानि हो रही है।)

नोट—२ '*राम बिमुख थलु नरक न लहहीं*' इति। (क) पृथ्वीका फट जाना और मृत्युकी प्राप्ति यही कैकेयीने माँगी थी। वही यहाँ 'नरक' के स्थानपर समझिये। कैकेयीको रामविमुख कैसे कहा? जैसे उसे 'किरातिनि', 'पापिनि' इत्यादि कहते आये हैं, वैसे ही यहाँ 'रामविमुख' कहा—'*बिधि कैकई किरातिनि कीन्ही*' और '*एहि पापिनिहि बूझि का परेऊ*' इत्यादि, तथा यहाँ '*रामबिमुख*……।' (रा० प्र०) भाव यह है कि पृथ्वीका फटना और मृत्युके मिलनेकी कौन कहे, यदि रामविमुख नरकमें भी छिपनेकी जगह कबूल करे तो नरक भी तो उसे ठौर न देंगे। ऐसेसे वे भी घृणा करेंगे, वे भी न चाहेंगे कि ऐसा पापी हमारे यहाँ आवे। यथा—'*अति बड़ि मोरि ढिठाई खोरी। सुनि अघ नरकहु नाक सकोरी॥*' (१। २९। १)। ['*राखि को सकइ राम कर द्रोही।*……*सब जग ताहि अनलहु ते ताता। जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता॥*' (३। २। ५—८) का भाव यहाँ भी है। (प० प० प्र०)] इससे 'रामविमुख'की अधमताकी पराकाष्ठा जनायी।

यहु संसउ सब के मन माहीं। राम गँवनु बिधि अवध कि नाहीं॥८॥

दो०—निसि न नीद नहि भूख दिन भरतु बिकल सुचि* सोच।

नीच कीच बिच मगन जस मीनहि सलिल सँकोच॥२५२॥

शब्दार्थ—नीच=नीचेके, तलके—(दीनजी)। संकोच=कमी; खिंचाव, भय। संकीर्णता, तंगी।

अर्थ—सबके मनमें यही संदेह है कि हे विधाता, रामचन्द्रजीका गमन अवधको होगा कि नहीं?॥८॥ श्रीभरतजीको न (तो) रातमें नींद ही पड़ती है न दिनमें भूख लगती है वे शुद्ध पवित्र सोचसे ऐसे विकल हैं। जैसे नीच कीचड़के बीचमें† डूबी पड़ी हुई मछलीको जलके संकोचसे व्याकुलता हो॥२५२॥

नोट—१ '*यहु संसउ सब के मन माहीं*……' इति। पितृकर्मके दो दिनके पश्चात् श्रीरामजीने गुरुसे प्रार्थना की थी कि '*सब समेत पुर धारिय पाऊ।*' उसका उत्तर लिखकर वह प्रसङ्ग '*रामबचन सुनि सभय समाजू। जनु जलनिधि महुँ बिकल जहाजू॥ सुनि गुर गिरा सुमंगल मूला। भयउ मनहुँ मारुत अनुकूला॥*' (२४९। २) पर छोड़ा था। बीचमें अवधवासियोंकी दिनचर्या कही जो प्रसंग '*रामबिमुख थल नरक न लहहीं।*' (२५२। ७) पर समाप्त हुआ। अब कुछ दिन वा दो दिन भी बीत गये तब फिर पूर्वसे प्रसंग उठाते हैं। वहाँ '*सब समेत पुर धारिय पाऊ*' और '*सभय समाजू*' कहा था। उसी सम्बन्धसे यहाँ '*यहु संसउ सब के मन माहीं*' कहा। वहाँ श्रीरामने जो '*पुर धारिय पाऊ*' कहा है उसीसे यहाँ '*राम गवनु बिधि अवध कि नाहीं*' यह सन्देह है। जब सबको लौटा ले जानेको कहा है तो क्यों जाने लगे? दूसरे मुनिने भी उनसे न कहा कि लौटाकर ले चलनेको आये हैं, यही कहा कि दो दिन दर्शन कर लें। जिस '*आवहिं बहुरि राम रजधानी*' के लिये यहाँ सब भरतजीके साथ आये

---

* राजापुर और काशिराज (रा० प्र०) का यही पाठ है। पाठान्तर 'सुठि' है।

† अर्थान्तर—१ 'तलेके कीचके बीच पड़ जानेसे मछली जलकी कमीसे व्याकुल होती है।' (दीनजी)।

२ 'जैसे नीच जल कीचड़के बीच मग्न होता है और पानीके संकोच (सूखने या घटने) से मछलीका दुःख बढ़ता जाता है।' ज्यों-ज्यों समय बीतता है त्यों-त्यों भरतजीके हृदयमें व्याकुलता बढ़ रही है। इस सामान्य बातकी विशेषसे समता दिखानी कि जैसे नीच जल कीचड़में मिलता जाता है, उसे मछलीके जीने-मरनेकी परवाह नहीं; परंतु जलके घटनेसे मछलीकी व्याकुलता बढ़ती जाती है! जलको 'नीच' कहा क्योंकि वह अपने प्रेमीके दुःख की परवाह नहीं करता। उसी तरह समय बीतता जाता है, उसे भरतकी व्याकुलताकी चिन्ता नहीं, चित्रकूटमें अल्पकाल रहनेका समय और जल, भरतजी और मछली, रामचन्द्रजीके लौटनेका असमंजस और कीचड़, समयका बीतना और जलका सूखना परस्पर उपमेय-उपमान हैं। (वीरकवि)

थे, उसकी चर्चा भी करनेमें गुरुको संकोच हुआ, यह देखकर सब श्रीरामजीके लौटनेमें सन्देह कर रहे हैं। एक अर्धालीमें सबका संशय कहकर आगे केवल भरतका सोच विस्तारसे कह रहे हैं।

नोट—२ *'सुचि सोच।'* भरतका सोच पवित्र है, शुद्ध है, इसीसे भूख और नींद कुछ नहीं—(रा० प्र०)। अशुचि सोचमें भी यह दशा (भूख न बासर नींद न राती) हो सकती है। अशुचि सोच चिन्ता वह है जो अशौचमें, अथवा किसी व्याधि आदिसे उत्पन्न होती है। श्रीभरतजीके सोचको 'सुचि' कहा, क्योंकि वह रामवियोगमय-जनित है, **'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्'** सरीखा नहीं है। रामस्नेहके अतिरिक्त अन्य किसीके स्नेहसे उत्पन्न चिन्ता अपवित्र चिन्ता है—यह सिद्धान्त यहाँ जनाया। (प० प० प्र०)

'नीच कीच बिच मगन जस मीनहि सलिल सँकोच'

पं०, रा० प्र०—मछलीको संकोच कि इस कीचड़के सूखनेपर क्या करूँगी, वैसे ही भरतजी विचार करते हैं कि दो दिन और बीते कि जानेकी आज्ञा ही होगी तब क्या करूँगा।

श्रीनंगे परमहंसजी—भरतजी अति सोचमें विकल हैं जैसे मीन जलकी कमी होनेसे जलके नीचे जो कीचड़ है उस कीचड़में डूबी रहे। दुःख सहकर उस कीचड़में प्राणकी रक्षा तो हो जायगी, क्योंकि कीचड़में भी उस जलका अंश (अवलम्ब) है। पर उस मीनको यह सोच है कि यदि कीचड़ सूख जायगा, जल पुनः नहीं मिला तो प्राणकी रक्षा कैसे होगी, क्योंकि उसके सुखपूर्वक जीवनका आधार जल ही है। इसी सोचमें जैसे मीन कीचड़में पड़ी रहे वैसे ही भरतजी मीनरूप हैं, श्रीरामजी जलरूप हैं, उनसे जो संयोग है उसकी कमी देख रहे हैं, अर्थात् देखते हैं कि चार-छः दिन और श्रीरामजीका हमसे संयोग है। अब हमारा जीवन (कीचड़रूप इसके नीचे) १४ वर्षकी जो अवधि है उसीसे होगा दुःखसहित, क्योंकि अवधिमें भी संयोगका अंश है जैसे कीचड़में जलका अंश है। परन्तु इस सोचमें विकल हैं कि कीचड़रूप अवधिके बीतनेपर श्रीरामजीका पुनः संयोग होगा कि नहीं। इसी सोचमें भरतजी अति विकल हैं। *'बीते अवधि रहे जो प्राना। अधम कवन जग मोहि समाना॥'* तथा श्रीरामजीका वचन कि *'बीते अवधि जाउँ जो जियत न पावों बीर।'* इसके प्रमाण हैं।

नोट—३ स्वामी प्रज्ञानानन्दजीने प्रायः यही मत ग्रहण किया है किंतु इसमें जो शंका हो सकती है कि 'अभीसे यह मानना कि उनको चिन्ता हो रही है कि अवधिकी समाप्तिपर संयोग होगा कि नहीं कब्ल अजवक्त (समयके पूर्व ही) होनेसे क्या मान्य है' वह उनके इस अंशको छोड़ देनेसे नहीं रह जाती। वे लिखते हैं कि 'जैसे-जैसे जलका संकोच होता है वैसे-ही-वैसे मीनका सोच बढ़ता जाता है कि जलके सूख जानेपर नीच कीचड़में मग्न होकर रहना पड़ेगा और जबतक उसमें आर्द्रता होगी तबतक प्राण भी न जायँगे। श्रीभरतजी राज्यको शोक-समाज कीचड़ ही समझते हैं। जैसे *'जल संकोच बिकल भइँ मीना'* वैसे ही यहाँ समयका बीतना जलका संकोच है। 'चौदह वर्षकी अवधि' रूपी समय कीचड़की आर्द्रता है। यदि श्रीरामजी न लौटे और राज्य करनेको कहा तो आज्ञाका पालन करना ही होगा तथा राज्यरूपी नीच कीचड़में सदा व्याकुल होकर रहना पड़ेगा। यही चिन्ता है। इससे मरण हो जाता तो अच्छा था पर वह तो विधाताके हाथमें है। माँगनेपर मृत्यु नहीं मिलती। धूलके समान कोई नीच नहीं है और धूल ही जलके संकोचसे कीचड़ बनती है। अतः *'नीच कीच'* कहा—*'कीचहि मिलइ नीच जल संगा।'*

शीला—कीच दो प्रकारकी होती है। एक सुन्दर है जिसे मछली खाती है और उसमें सुखी रहती है और दूसरी वह है जिसे वह नहीं खाती वही *'नीच कीच'* है। यहाँ माताका करतब और अपयश 'नीच कीच' है। अपयश तो सभी जीवोंके लिये निन्द्य है, पर यह अपयश रामजीके सम्बन्धसे अति निन्द्य है; इसीसे यह 'नीच कीच' है। भरतजी मीन और रामजीका अवधको लौटना जल है।

पाँ०—'नीच कीच'=थोड़ी कीच। जैसे मीनको जल थोड़ा वैसे ही इनका चित्रकूटका रहना थोड़ा।

उसे बगुला आदिका भय, इन्हें रघुनाथजीकी आज्ञाका भय। उसका जीवन बिना जलके नहीं, वैसे ही इनका जीवन रामसंयोग बिना कहाँ? (बैजनाथजी भी यही भाव लिखते हैं। भेद इतना है कि वे 'नीच' का अर्थ 'मैली' करते हैं)। सोचका स्वरूप जो यहाँ कहा उसीको आगे प्रकट करते हैं।

वीरकविके विचार पादटिप्पणी पृष्ट ९७२ में देखिये।

कीन्हि मातु मिस काल कुचाली। ईति भीति जस पाकत साली॥ १॥
केहि बिधि होइ राम अभिषेकू। मोहि अवकलत उपाउ न एकू॥ २॥
अवधि फिरहिं गुर आयेसु मानी। मुनि पुनि कहब राम रुचि जानी॥ ३॥
मातु कहेहु बहुरहिं रघुराऊ। रामजननि हठ करबि कि काऊ॥ ४॥
मोहि अनुचर कर केतिक बाता। तेहि महँ कुसमउ बाम बिधाता॥ ५॥
जौं हठ करउँ त निपट कुकरमू। हरगिरि तें गुरु सेवक धरमू॥ ६॥

शब्दार्थ—अवकलना (सं० अवकलन= ज्ञात होना)=समझ पड़ना, ज्ञान होना, देख पड़ना। **पुनि**=फिर, पर। **केतिक**=कितनी।

अर्थ—माताके बहाने कालने कुचाल की जैसे धानके पकते ही ईतिका भय आ उपस्थित हो॥ १॥ श्रीरामजीका राज्यतिलक किस प्रकार हो? मुझे तो एक भी उपाय नहीं सूझता॥ २॥ गुरुजीकी आज्ञा मानकर अवश्य लौटेंगे, पर मुनि श्रीरामजीकी रुचि जानकर ही कहेंगे रुचिके प्रतिकूल न कहेंगे॥ ३॥ माता कौसल्याके कहनेसे भी श्रीरामजी लौट सकते हैं; पर रामको उत्पन्न करनेवाली माता क्या कभी हठ करेगी? (अर्थात् कदापि नहीं)॥ ४॥ मुझ सेवककी तो बात कितनी? उसमें भी कुसमय (समयका फेर) है, विधाता उलटे हैं॥ ५॥ यदि मैं हठ करूँ तो यह सरासर कुकर्म है क्योंकि शिवजी एवं शिवजीके पर्वत कैलाससे भी सेवकका धर्म भारी है।

रा० प्र०—*'कीन्हि मातु मिस काल कुचाली।·······'* इति। (क) भाव यह कि केवल माताकी कुचाल होती तो लोग सँभाल लेते। पर, यह कुचाल कालकी है, यह कैसे सँभल सके? क्योंकि ***'काल सदा दुरतिक्रम भारी'*** है, वह ईश्वरका रुख देखकर काम करता है—***'काल बिलोकत ईसरुख',*** वह भगवान्‌का भ्रू-विलास ही है—***'भृकुटि बिलास भयंकर काला।'*** (६।१५।२) इसीसे वह तो आजतक दु:ख दे रहा है। (ख) ***'ईति भीति जस पाकत साली'*** इति। यहाँ गुरु, पिता और प्रजा सब किसान हैं, रामराज्य जड़हन धान है जिसको अनेक सुकृतरूपी मेहनतसे तैयार किया। जब पूरा पकनेको एक दिन रह गया तब, कैकेयीको कुमतिरूपी ईतिकी बाधा इसे हुई। ईतियोंमेंसे एक मूसोंकी बाधा भी है वही बाधा यहाँ उपस्थित हो गयी, उसने बालियोंको काट डाला। अब रामतिलक कैसे हो? भाव कि टूँठमें बालियाँ फिर होती नहीं वैसे ही तिलकका होना सम्भव नहीं।—(पाँड़ेजी—कैकेयीकी जिह्वा तोता है जिसने बालियाँ काट डालीं)।

२—धानके पकते ही 'ईति, की बाधा हुई। रामराज्याभिषेक होनेकी पूर्ण तैयारी धानका पकना है। कल फसल कटेगी, आज ईतिकी बाधा हो गयी। वैसे ही सबेरे तिलक होता एक दिन पहले संध्यामें कालने कुचाल की। धान सब भ्रष्ट किया। यहाँ राज्याभिषेक भङ्ग हुआ। ईति छ: हैं वैसे ही यहाँ देवता, सरस्वती, मन्थरा, कैकेयी और दो वरदान (भरतराज्य एवं रामवनवास)।

३—'पाकत' का भाव कि जिसमें सब नष्ट हो जाय फिर किसी यत्नसे धान न हो। क्योंकि यदि अभी जम ही रहा होता तो फिर उलटकर बो लिया जाता, या सूखता भी होता तो सींचकर पानी देकर यत्न हो जाता। पर पकनेपर सब नष्ट होनेसे कुछ नहीं हो सकता।

नोट—१ *'अवसि फिरहिं गुरु आयसु मानी।.........'* इति। (क) अर्थात् पिताके वचन मानकर वन आये। और ये रामके गुरु फिर पिताके भी गुरु हैं इससे गुरुकी आज्ञासे लौटनेमें सन्देह नहीं। श्रीरामजीने कहा ही है—*'प्रथम जो आयसु मो कहुँ होई। माथें मानि करौं सिख सोई॥'* (२५८।४), *'राउर राय रजायसु होई। राउरि सपथ सही सिर सोई॥'* (२९६।८) पर *'मुनि पुनि कहब.........'।* क्या मुनि कहेंगे? हाँ; कहेंगे पर 'रामजीकी रुचि जानकर' कहेंगे, उनका रुख लौटनेका न होगा तो न कहेंगे। गुरुजीने आगे कहा ही है—*'राखें राम रजाइ रुख हम सब कर हित होइ। समुझि सयाने करहु अब सब मिलि संमत सोइ॥'* (२५४) (पु० रा० कु०) (ख) 'रुचि जानकर कहेंगे' यह सन्देह क्यों है? क्योंकि पहले जब रामजीने उनसे सब समेत लौटनेको कहा तब उत्तरमें उन्होंने रामजीके ही मनकी बात कही—*'लोग दुखित दिन दुइ दरस देखि लहहिं बिश्राम'*— दो दिन विश्राम लेनेको कहा, लौट चलनेको न कहा, यह रामके मनकी हुई। (ग) 'पुनि' का अर्थ 'फिर' है। यह अर्थ लेनेसे दुबारा कहना पाया जाता है, एक बार पहले कह चुके हैं। बाबा हरिहरप्रसादजीका मत है कि एक बार राज्याभिषेकके समय कहा था—*'राम करहु सब संजम आजू'।* यह बात निष्फल गयी; इससे दूसरी बार कहेंगे तो पहले रुचि जान लेंगे तब कहेंगे, नहीं तो नहीं। वा, प्रथम कह चुके हैं कि दो दिन विश्राम ले लें तो क्या अब दूसरी बार लौटनेको कहेंगे? कहेंगे तो रामरुचि लखकर। यदि 'पुनि' का अर्थ 'पर' कर लें तो कोई झगड़ा नहीं रहता, परन्तु कविने ऐसा प्रयोग और कहाँ किया है यह नहीं कहा जा सकता। 'पुनि' का अर्थ 'तब' उस हालतमें होता है पर यह अर्थ लेनेसे अर्थ करनेमें 'परन्तु' अपनी ओरसे बढ़ाना होगा—'परंतु मुनि उस हालतमें रामरुचि जानकर कहेंगे। वा, 'मुनि रामरुचि जानकर तब कहेंगे'। या, मनमें प्रश्न और उत्तर मानकर अर्थ कर लें—तो फिर (=तब) क्या मुनि कहेंगे? (उत्तर—)'रुचि जानकर कहेंगे।' 'पुनि' शब्द जनाता है कि एक विचारको काटनेवाला दूसरा विचार उत्पन्न हुआ। पूर्व कई बार यह लिखा जा चुका है कि पं० रामकुमारजी कहते हैं कि 'मैं पुनि' 'तुम पुनि' आदि गहोरावासियों बुन्देलखण्डियोंकी बोली है। इसमें 'पुनि' का पृथक् कोई अर्थ नहीं है। वैसे ही यहाँ 'मुनि पुनि'=मुनि। पं० वि० त्रि० त्रिपाठीजीका यही मत है कि यहाँ पुनि शब्दका कोई पृथक् अर्थ नहीं है, ऐसा बोलनेका मुहावरा है—*'मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा सो सूकरखेत।' 'मैं पुनि करि प्रमान पितु बानी। बेगि फिरब सुनु सुमुखि सयानी॥' 'तुम पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनंग अराती॥'* आज भी कहते हैं कि *'मैं पुनि अस कीन्ह्यौं'।* यदि कुछ अर्थ करना ही हो तो 'तो' अर्थ कर सकते हैं कि मुनिजी तो रामजीका रुख देखकर कहेंगे।

नोट—२ *'रामजननि हठ करबि कि काऊ'।* गुरुजी तो श्रीरामरुख देखकर कहेंगे, इससे वह उपाय गया। दूसरा उपाय है कि माता कहे। माताका गौरव पितासे दसगुणा अधिक है। हठ करें तो लौट सकते हैं। पर वे हठ न करेंगी क्योंकि वे 'रामजननि' हैं। जिन्होंने अपने कोखसे ऐसे धर्मात्मा-सत्यसंध पुत्रको उत्पन्न किया वे धर्म कब छोड़नेकी— *'पितु आयसु सब धरमक टीका'* उस धर्मको क्यों तुड़वायेंगी, पतिकी सत्यता और पुत्रके धर्मपर क्यों बट्टा लगायेंगी? माताने पूर्व कहा भी है कि *'यह बिचारि नहिं करउँ हठ ....॥'* (प्र० सं०)। पुनः वे प्रथम ही अपना सम्मत इन वचनोंसे दे चुकी हैं कि *'जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥ जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥'* वे सत्यप्रतिज्ञ रामकी माता हैं, वे अपनी ही दी हुई इस सम्मतिरूपी आज्ञाका भंग कैसे करेंगी? और जब श्रीरामजी कहेंगे कि जैसे 'पितुर्दशगुणा माता है वैसे ही 'मातुः शतगुणा सापत्नमाता' है, तब वे क्यों कहेंगी? पुनः *'राम जननि हठ करबि कि काऊ'* का भाव कि वे भरतजननी नहीं हैं, रामजननी हैं। भरतजननीने हठ किया, पर रामजननी कभी हठ न करेंगी((प० प० प्र०)। यह दूसरा उपाय सूझा; उसका भी खण्डन हो गया। अब तीसरा उपाय सोचते हैं कि अच्छा हम ही कहें तो उसमें भी अनेक कठिनाइयाँ देख पड़ती हैं। एक तो मैं सेवक, दूसरे समय फिरा हुआ, तीसरे विधाता प्रतिकूल। सेवककी एक तो बात ही कितनी? उसकी कदर ही क्या? दूसरे वह हठ कर नहीं सकता, हठ करे तो सेवकधर्मसे च्युत हो जाय। करे भी तो समय फिरनेसे एवं दैवके प्रतिकूल होनेसे श्रम निष्फल होगा, एक कठिनाई होती तो कुछ करते भी, यहाँ तीन-तीन हैं।

पं०—'सेवककी रुचि प्रभु रखते हैं, यथा—*'राम सदा सेवक रुचि राखी। बेद पुरान साधु सुर साखी॥'*

(२१९।७) अत: तुम ही कहो', यदि ऐसा कोई कहे तो उसका उत्तर है कि यह ठीक है, पर काल और विधाता हमारे दोनों प्रतिकूल हैं इससे सफलता न होगी।

नोट—३ *'जौं हठ करउँ'''''''''हरगिरि तें गुरु सेवक धरमू'* इति। भाव कि कैलाश उठा लेना सहज है, पर सेवाधर्मका भार उठाना कठिन है। सेवकका धर्म है स्वामीकी आज्ञा मानना और स्वामीका धर्म है आज्ञा देना। इसके विपरीत स्वयं हठ करना स्वामीको आज्ञा देना है जो सेवाधर्मके प्रतिकूल है। इससे सेवकका *'धर्म जाइ सिर पातक भारी'* और *'जो सेवक साहिबहि सँकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची॥'* (२६८।३।७) कैलाशको रावणने उठा लिया था, यथा—*'जेहि कौतुक सिव सैल उठावा।'* (१।२९२) पर वह रावण भी सेवाधर्मका भार उठानेमें हिचकिचा गया, यथा—*'होइहि भजन न तामस देहा।'* (३।२३।५) और उसने शत्रुताद्वारा ही मुक्ति चाही। *'मन क्रम बचन मंत्र दृढ़ एहा।'* (३।२३।५) इससे जान पड़ा कि रावणने दोनोंकी गुरुताको तोला था।

वै०, पां०—दूसरा अर्थ श्लेषद्वारा यह होता है—'शिवजी और पर्वत (विन्ध्याचल) से सेवकधर्मकी गुरुता प्रकट है। शिवजीने सेवाधर्म ऐसा निबाहा कि *'बिनु अघ तजी सती अस नारी'* और विन्ध्याचलने सेवाधर्म जाना कि गुरु अगस्त्यजीको प्रणाम किया और उनकी आज्ञासे अबतक वैसा ही लेटा रह गया।'

पु० रा० कु०—वाल्मीकिजी लिखते हैं कि भरतजीने अनशनव्रत धारण किया तब श्रीरामजीने कहा कि तुम अधर्मी हो। यह बात गोस्वामीजीको नहीं भायी, इसीसे उन्होंने उनका अनुसरण नहीं किया। स्वामीसे सेवक हठ करे, अनशन व्रत ले, यह निपट कुकर्म है। कैलाशका दृष्टान्त दिया क्योंकि वह स्वच्छ है। *'आज्ञा सिरपर नाथ तुम्हारी'* इस परमधर्मपर आरूढ़ भगवान् शङ्करजीका निवास-स्थान है; वैसे ही सेवाधर्म परम स्वच्छ है। दूसरे, पर्वतसे भारी दिखानेके लिये भी इसीका दृष्टान्त उपयुक्त मिलता था, क्योंकि इसको रावणने उठा लिया था। पर सेवाधर्मका भार उठाना सहज नहीं।' (नोट—देखिये पूज्य कविकी लोकशिक्षात्मक दृष्टि। पूज्य कविने वाल्मीकिजीके इस प्रसंगको कैसा मनोहर बनाकर रखा है। यह साहित्यिक दृष्टिसे। और वैसे तो मानस-कल्पके भरत और उनका चरित ऐसा ही है जैसा लिखा गया)।

एकउ जुगुति न मन ठहरानी। सोचत भरतहि रैनि बिहानी॥७॥
प्रात नहाइ प्रभुहि सिर नाई। बैठत पठये रिषय बोलाई॥८॥

शब्दार्थ—**ठहरानी**=स्थिर हुई, टिकी, निश्चित हुई। **बिहानी**=बीत गयी।

अर्थ—एक भी युक्ति मनमें न ठहरी। भरतजीको सोचते-ही-सोचते रात बीत गयी॥ ७॥ सबेरे स्नान करके प्रभुको मस्तक नवाकर बैठते ही ऋषि वसिष्ठजीने बुला भेजा॥ ८॥

नोट—*'एकउ जुगुति न मन ठहरानी।'''''''* इति। तीन युक्तियाँ वर्णन करके फिर यह कहकर जनाया कि और भी बहुत-से उपाय सोचे, ये तीन मुख्य थे। पर कोई भी परीक्षाकी कसौटीमें पूरा न उतरा। 'तीन' बहुवचन भी है, अत: तीनसे ही बहुत-से सूचित कर दिये। *'भरतहि रैनि बिहानी'* में पूर्वकथित *'निसि न नींद''''''भरत बिकल सुचि सोच'* चरितार्थ हुआ। *'कीन्हि मातु मिस काल कुचाली'* से यहाँतक *'सुचि सोच'* की व्याख्या हुई। *'प्रात नहाइ प्रभुहि सिर नाई। बैठत'* यह भरतजीकी दिनचर्या बतायी। गुरुजी प्रात:चर्या जानते थे, अत: वहाँसे बुलवाया।

'भरत गये जहँ प्रभु सुखरासी'—**प्रकरण समाप्त हुआ।**

'पुनि रघुपति बहु बिधि समुझाए'—प्रकरण

(चित्रकूटमें वसिष्ठ-भरत-गोष्ठी)

दो०—गुरपदकमल प्रनामु करि बैठे आयसु पाइ।
बिप्र महाजन सचिव सब जुरे सभासद आइ॥२५३॥

बोले मुनिबरु समय समाना। सुनहु सभासद भरत सुजाना॥ १॥
धरम धुरीन भानुकुल भानू। राजा रामु स्वबस भगवानू॥ २॥
सत्यसंध पालक श्रुति सेतू। राम जनम जग मंगल हेतू॥ ३॥
गुर पितु मातु बचन अनुसारी। खल दलु दलन देव हितकारी॥ ४॥
नीति प्रीति परमारथ स्वारथु। कोउ न राम सम जान जथारथु॥ ५॥

अर्थ—श्रीभरतजी श्रीगुरुचरण-कमलोंको प्रणाम करके आज्ञा पाकर बैठे। (उसी समय) ब्राह्मण, महाजन (रईस, सेठ-साहूकार), मन्त्री, आदि सभी सभासद् आकर एकत्र हुए॥ २५३॥ समयके अनुसार मुनिश्रेष्ठ (गुरुजी) बोले—हे सुजान भरत और सभासदो! सुनिये॥ १॥ श्रीरामचन्द्रजी धर्मधुरीण, सूर्यकुलके सूर्य, राजा, स्वतन्त्र और भगवान् हैं॥ २॥ सत्यप्रतिज्ञ हैं, वेदरूपी पुल वा वेदमर्यादाके रक्षक हैं। श्रीरामजीका अवतार जगत्के मङ्गलके लिये हुआ है॥ ३॥ वे गुरु, पिता और माताके वचनोंपर चलनेवाले हैं, दुष्ट दलके नाशक और देवताओंके हितकारी हैं॥ ४॥ नीति, प्रीति, परमार्थ और स्वार्थ, इन्हें रामके समान कोई और यथार्थ (जैसा चाहिये ठीक-ठीक वैसा) नहीं जानता॥ ५॥

नोट—१ काश्यप-संहितामें अक्षरशः यही कहा है। (ऐसा हमने प्र० सं० में लिखा था और छः श्लोक भी दिये थे, पर वह संहिता हमें देखनेको नहीं मिली। इसलिये निश्चित न होनेसे वे श्लोक नहीं दिये गये।)

नोट—२ *'जुरे सभासद आइ'* से जनाया कि सबको गुरुजीने बुला भेजा था; और यह कि गुरुजीका डेरा श्रीरामजीकी कुटीके पास ही था कि भरतजी आज्ञा पाते ही वहाँ पहुँच गये और सब लोग पीछे पहुँचे। यहाँ सब विशेषण साभिप्राय हैं। गुरुजीके वचन बड़े गम्भीर हैं। इसीसे हमने आगे सबके कुछ-कुछ भाव दिखलाये हैं। जिसमें समझनेमें उलझन न पड़े।

नोट—३ *'बोले मुनिबर समय समाना।'* इति।—समयानुसार, जैसा कुछ ऐसे समयमें कहना उचित है। श्रीरामजी माता-पिताके वचनका पालन करने एवं देवताओंके हितके लिये वनमें आये हैं और भरतजी लौटाने आये हैं। दोनों पक्षोंको सँभाले हुए वचन कहे। [१—उत्साहका समय नहीं है, अतः अल्प सम्मान और थोड़े ही वचनोंमें—(पं०, रा० प्र०)। २—व्यवहारानुसार—(वै०, पां०)]

नोट—४ *'सुनहु सभासद भरत सुजाना'।* (क)—प्रथम सभासदोंको सम्बोधन किया; क्योंकि इनमें महर्षि वामदेव, जाबालि आदि भी हैं। (पं०, वै० रा० प्र०)। पुनः, (ख) भरतजीको सुजान विशेषण दिया; क्योंकि जो कुछ कहना है उसको यथार्थ ये ही जान और समझ सकते हैं। पुनः, प्रपत्तिका स्वरूप जाननेमें ये एक ही हैं—(रा० प्र०) वा, 'सुजान' अन्तमें देकर सबके साथ कह सकते हैं और पाँड़ेजीने भी ऐसा ही माना है।

शीला—माता-पिताके वचन तो मानकर आये ही हैं। *'गुरु बचन अनुसारी'* कैसे कहा? इस कथनसे जनाया कि हमारा भी उसमें सम्मत है; हम भी उस आज्ञाके विरोधी नहीं। ब्रह्माके पुत्र हैं, अतः जो ब्रह्मा, सरस्वती और देवता चाहते हैं वही अपना मत जनाया। (आगे भी गुरुजीकी आज्ञाको प्रभुने शिरोधार्य किया ही है—*'तापर मोहि गुरु आयसु दीन्हा।'*

विशेषणोंके भाव

धर्मधुरीण—१ धर्म रथ है। श्रीरामजी उसकी धुरीको धारण किये हैं। सारा जगत् उसपर सवार है। ये धुरा छोड़ दें तो धर्म गिर जाय, जगत्में धर्मपर कोई आरूढ़ न होगा; इससे उसे न छोड़ेंगे—(शिला)। यथा—'**यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः। मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ उत्सीदेयुरिमे लोका**……।' (गीता ३। २३। २४) (दोहा २४७ में देखिये) २—अधर्मका बोझ कैसे धरेंगे—(पाँ०)। धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ हैं, धर्मरूपी बोझके सँभालनेवाले हैं। वे पिताकी आज्ञा-पालनरूपी परम धर्मपर आरूढ़ हैं, माता कैकेयीको भी वचन दिया है, उनसे कह चुके हैं—*'सुनु जननी सो सुत बड़ भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥'*……जौं

न जाउँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिअ मोहि मूढ़समाजा॥' (४१। ७। ४२। २) निज माताने भी आज्ञा दी और कहा है कि *'तात जाउँ बलि कीन्हेहु नीका। पितु आयसु सब धरमक टीका॥'* (५५। ८) *'जाहु सुखेन बनहिं बलि जाऊँ।'* (५७। ४) तब वे माता-पिताके आज्ञा-पालनरूपी परम धर्मका त्याग क्यों करेंगे? ३—एक धर्मका भार सिरपर लदा ही है। दूसरा भार गुरु वा माताकी आज्ञा-पालनका कैसे लादा जाय? जबतक पिता पुत्र-धर्मसे उऋण न हो लें तबतक दूसरा भार डालना क्या उचित होगा? ☞पूर्व भी यह विशेषण आया है, यथा—*'धीर धरमधुर दीन दयाला।'* (२४३। २) इत्यादि। *'धर्म धुरीन'* विशेषण सर्वप्रथम देकर सूचित किया कि अन्य समस्त गुणोंकी प्राप्ति धर्मके ही आश्रित है। धर्म सबका मूल है। (प० प० प्र०)

भानुकुलभानु—१—सूर्यकुल अति निर्मल है जैसे सूर्य; उसके भी ये सूर्यवत् प्रकाशक हैं। इस कुलमें सदा सत्यधर्मकी रक्षा की गयी—*'रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहु बरु बचन न जाई॥'* (२८। ४)। ये सत्यको छोड़कर कब कुलमें दाग लगायेंगे? २—सूर्यसे कोई कहे कि हमारे घरसे न निकलो, हमारे यहाँ प्रकाश करो, अन्यत्र न जाओ तो क्या सूर्य रोकनेसे रुकेंगे? वैसे ही ये तो जगत्‌को प्रकाशित करने चले हैं, कब रुक सकते हैं। ३—इस कुलके सब राजा सूर्यवत् हुए, जगत्‌भरमें धर्मके उजागर करनेवाले हुए और ये तो उस कुलके भी प्रकाशक हैं, ये उनके भी सूर्य हैं, उनसे कोटि गुणा यश विस्तार करेंगे—(शिला)। ४-भानु=प्रकाशमय, प्रकाशमान। **'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा'**। उस (धर्म) को प्रकाशमें लानेवाला जो कुछ है वह धर्मधुरीण भानुकुल है और ये उसके भी प्रकाशक हैं। (प० प० प्र०)

राजा—१— किसीके कहनेमें नहीं—*'भूप सुसेवित बस नहिं लेखिय।'* (३। ३७। ८) अपनी बात रखेंगे, किसीके कहनेसे कुछ-का-कुछ कदापि न करेंगे। २—ये स्वयं सिद्ध राजा हैं, इन्हें कोई राजा क्या बनावेगा? ३—दुष्टोंको दण्ड देना राजाका काम है, अतः रावण आदिको अवश्य दण्ड देने जायेंगे। (शिला)। ४ 'राजा' का अर्थ है जिससे प्रजाका रञ्जन हो। सारी प्रजाका जो भरण-पोषण, रक्षा, मनोरञ्जन करे वही यथार्थ राजा है। ये सब गुण इनमें हैं।

राम—१— ये सबमें रमण करते और सब इनमें रमते हैं। सबके उरप्रेरक ये ही हैं। जैसा चाहेंगे वैसी ही प्रेरणा करके करा लेंगे। २—सबके मनकी जानते हैं, उनसे कहना ही क्या? उचित होगा सो वे स्वयं कर देंगे। ३—*'जो आनन्दसिंधु सुखरासी। सीकर तें त्रैलोक सुपासी॥ सो सुखधाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक बिश्रामा॥'* (१। १९७। ५-६)। श्रीरामजी ऐसे हैं। अतः उनके लिये जो दुःख तुम मान रहे हो कि *'बिनु पग पनही। करि मुनि बेष फिरहिं बन बनहीं॥ अजिन बसन……बरषा बात।'* (२९७) *एहि दुख दाह दहइ दिन छाती॥'* वैसा माननेका कोई कारण नहीं है। उनको दुःख और क्लेश कहाँ? अतः यह शोक छोड़ देना चाहिये। (प० प० प्र०)

स्ववस—१—अपने ही वशमें हैं; दूसरेके नहीं—*'परम स्वतंत्र न सिर पर कोई। भावै मनहिं करहु तुम्ह सोई॥………'* *'बिसमय हरष न कछु हिय धरहू'* (१। १३७), *'निजतंत्र नित रघुकुलमनी।'* (१। ५१), *'स्वबस अनंत एक अबिकारी।'* उनपर कोई दबाव डाल नहीं सकता, न वे दबावमें आ सकते हैं। २—सम्बन्धी मानकर फिरनेको न कहो।—(शिला)

भगवान्—१—**'पोषणं भरणाधारं शरण्यं सर्वव्यापकम्। कारुण्यं षड्भिः पूर्णो रामस्तु भगवान् स्वयम्॥'**, **'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥'** षडैश्वर्यशाली हैं, सबके गुरु हैं, इनपर गुरु या किसीका अधिकार नहीं चल सकता। २-सारा ब्रह्माण्ड इनका ऐश्वर्य है, सबका सँभार किया ही चाहें। ३—समर्थ हैं, तुम्हारा स्नेह भी निबाहेंगे और अपनी स्वतन्त्रता भी—(शिला)। ४ वि० पु० में भगवत् और भगवान् शब्दोंकी विस्तृत व्याख्या है। अव्यक्त, अजर, अचिन्त्य, अज, अव्यय, अनिर्देश्य, अरूप हस्तपादादिरहित, विभु, व्यापक, नित्य,

जिनसे सर्वभूतोंकी उत्पत्ति हुई, स्वयं अकारण, व्याप्यमें जो व्याप्त है, जिनका बुद्धिमान् लोग ध्यान करते हैं, मुमुक्षुका ध्येय यह ब्रह्मका स्वरूप 'भगवत्' शब्दसे वाक्य है। संसारका उपादान कारण, निमित्त कारण तथा उत्पत्ति-स्थिति और लयका करनेवाला, अन्तर्यामी, सम्यक् ऐश्वर्य, सम्यक् वीर्य, सम्यक् यश, सम्यक् श्री, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् वैराग्य इन छहों ऐश्वर्योंसे सम्पन्न; जीवोंकी उत्पत्ति, नाश, आगमन, गमन, विद्या और अविद्याका ज्ञाता; शरणागतको शरण देनेवाला और करुणापूर्ण; त्याज्य मायिक गुण-दोषोंके विरोधी, कल्याण गुणोंसे युक्त तथा समस्त पूज्योंसे भी पूज्यतम इत्यादि होनेसे श्रीरामजीको 'भगवान्' कहा। विशेष। १। १३। ४ में देखिये।

सत्यसंध— सत्यप्रतिज्ञ हैं। **'रामो द्विर्नाभिभाषते'** ऐसा कैकेयीसे कहा था। उनका संकल्प झूठ नहीं हो सकता। ***'सत्यसंध प्रभु सुर हितकारी।'*** (२२०। १) (देवगुरुवाक्य), ***'सत्यसंध दृढ़ ब्रत रघुराई।'*** (८२। १)। देखिये। जो धर्मधुरीण है उसे सत्यप्रतिज्ञ होना चाहिये, क्योंकि ***'धर्म न दूसर सत्य समाना।'*** (९५। ५) यह स्वयं श्रीरामजीने सुमन्त्रजीसे कहा है। तब सत्यसे कोई उन्हें कब हटा सकता है और हटायेगा क्यों?

श्रुतिसेतु पालक—वेदमर्यादाको स्वयं पालते और अधर्मियोंसे उसकी रक्षा करते हैं। अतः वे रावण आदिका वध करके इसकी रक्षा करेंगे ही। कच्छप, मच्छ, वराह, नृसिंह आदि अनेक रूप धरकर रक्षा करते चले आये हैं। श्रीशिवजी और वाल्मीकिजी आदिने भी कहा है—***'असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु।'*** (१। १२१) ***'श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह।'*** (१२६ छंद) ***'रघुकुलकेतु सेतु श्रुतिरक्षक।'*** (७। ३५। ८) इत्यादि। श्रुतिसेतुपालकका कर्तव्य ही है असुरों, खलोंको दण्ड देना; बिना इसके रक्षा हो ही नहीं सकती तभी तो इसके साथ कहा है ***'असुर मारि……।'*** (१। १२१), ***'सुरकाज धरि नरराज तनु चले दलन खल निसिचर अनी।'*** (१२६ छंद), ***'जौं नहिं दंड करउँ खल तोरा। भ्रष्ट होइ श्रुति मारग मोरा॥'*** (७। १०७) तब यह कौन कहेगा कि वेदोंकी रक्षा न करो।

'जनम जग मंगल हेतू'—१ अवतार जगत्‌भरके मङ्गलके लिये है, कुछ अवधके ही लिये नहीं। वनवाससे ब्रह्माण्डभरका मङ्गल होना है। सुर-मुनि, वनवासी, सुकृति सभीका मङ्गल करना है तब घरमें ही कैसे रह सकते हैं? कौन कह सकता है कि जगत्‌का अमङ्गल दूर करो, घरमें ही मङ्गल दो, २—स्वार्थी बनो जगत्‌में तुम भी हो, जगत्‌के मङ्गलसे तुम्हारा भी मङ्गल होगा—(शिला)। ३—यह वचन श्लिष्ट है। राम जग-जन्म हेतु हैं और जगमङ्गल हेतु भी हैं। राम जगके जन्मका कारण हैं, यथा—**'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते इति श्रुतिः'**, **'जन्माद्यस्य यतः'** (ब्रह्मसूत्र), **'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्'** (स्मृति, भ० गीता), ***'जग कारन तारन भव'*** (कि०) जगमङ्गल हेतु हैं, यथा—***'मंगलमूल राम*** (सुत-जासु)।, (२। ५), ***'जगमंगल सुखदारा।'*** (९४। २) (प० प० प्र०)

'गुरु पितु-मातु-बचन अनुसारी'—माधुर्यमें गुरु-पिता-माताकी मर्यादा भी रखते हैं, जो वे कहते हैं वही रामजी करते हैं। देवमुनिकी रक्षा, धरणिके भारके हरणका संकल्प पूर्व ही कर चुके, तब भी इनके वचनोंका भी पालन साथ-ही-साथ करते हैं। देखनेमें पिताके वचनसे वनमें आये, पर ऐश्वर्यमें 'खल दल दलन देवहितकारी' हैं, इससे वनको आये। ३—तीनोंकी आज्ञाका अनुसरण करनेवाले हैं; दोकी आज्ञा पालन कर रहे हैं तब उसके विपरीत आज्ञा दें तो एकको भङ्ग करना होगा; यह उनके धर्मके प्रतिकूल पड़ेगा।

खल दल दलन देवहितकारी— २२० (१) देखिये। ***'असुर मारि थापहिं सुरन्ह पालहिं निज श्रुतिसेतु'*** यह उनका ऐश्वर्य माधुर्य है। बिना दुष्टोंके नाशके देवताओंका हित हो नहीं सकता और वह बिना वनवासके सम्भव नहीं। तब वनसे लौटनेको कैसे कहा जाय?

'नीति प्रीति……कोउ न राम सम जात जथारथ'—१ भाव यह कि जब ये धर्मनीति, राजनीति, प्रीति, परमार्थ, स्वार्थ सभीमें परिपूर्ण हैं तब उनको कोई नीति क्या सिखावे, वे स्वयं समझते हैं, ब्रह्माण्डमें कोई

वैसा समझनेवाला नहीं है। अतएव वे जो कुछ करेंगे, अच्छा ही करेंगे, कहनेका कुछ प्रयोजन नहीं। नीति रावणको सिखायी, बालि निरुत्तर हो गया और फिर राजा होनेपर इनकी नीति देख लीजिये। नीतिका प्रभाव कि *'राम राज बैठे त्रैलोका। हरषित भए गए सब सोका॥'* प्रीतिके गुह, सबरी, सुग्रीव, गृद्ध आदि उदाहरण हैं—*'जानत प्रीति रीति रघुराई'*— (विनय १६४) परमार्थ पुरवासियोंके उपदेशमें देख लीजिये। स्वार्थ लोकव्यवहार ऐसा कि सबको ये प्राणसे अधिक प्रिय हैं, सब ऐसे अधीन हो गये हैं। दूसरा यथार्थ नहीं जानता। ये यथार्थ जानते हैं और सब अधूरा जानते हैं। (प्र० सं०) प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि धर्मका सबसे पहले उल्लेख करके अब यहाँ 'नीति प्रीति········' में नीतिको अग्र स्थान देकर जनाते हैं कि वे धर्मानुकूल नीतिका पालन मुख्य समझते हैं और प्रीतिको गौण। प्रीतिसे परमार्थकी, ज्ञान-मोक्षकी कीमत कम है और स्वार्थका विचार तो सबके अन्तमें करेंगे, भले ही वह स्वार्थ अपना (हम लोगोंका) हो या शत्रुका। श्रीरामजीमें तो स्वार्थ है ही नहीं। वे तो *'स्वारथ रहित सखा सबही के'* तथा *'हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥'* हैं (प० प० प्र०) २ *'कोउ न राम सम जान जथारथ'* का भाव यह है कि नीति-प्रीति परमार्थ और स्वार्थके सामञ्जस्य बिठानेमें ही सारी पण्डिताई है। नीति-प्रीति परमार्थ-स्वार्थसे सभी लोग थोड़ा-बहुत परिचित हैं। गुरुजी कहते हैं कि मुझे भी कुछ परिचय है ही, पर यथार्थ ज्ञान इनका रामचन्द्रजीको ही है, मुझे भी नहीं है, मैं रामजीका रुख देखकर ही कुछ करता हूँ, और तुम लोगोंको भी सलाह देता हूँ कि *'राखे राम रजाइ रुख हम सब कर हित होई।'* यहाँपर वसिष्ठजीने रामजीके रुखको देखकर काम करनेका माहात्म्य कहा और बतला दिया कि उसीसे सबका हित होगा। *'मुनि पुनि कहब राम रुख जानी'* का उत्तर भी हो गया। (वि० त्रि०)।

बिधि हरि हर ससि रबि दिसिपाला। माया जीव करम कुलि काला॥ ६॥
अहिप महिप जहँ लगि प्रभुताई। जोग सिद्धि निगमागम गाई॥ ७॥
करि बिचार जिय देखहु नीकें। राम रजाइ सीस सबही कें॥ ८॥

दो०—राखें राम रजाइ रुख हम सब कर हित होइ।
समुझि सयाने करहु अब सब मिलि संमत सोइ॥ २५४॥

शब्दार्थ—प्रभुताई =प्रभुत्व, प्रभुता या ऐश्वर्यवाले।

अर्थ—ब्रह्मा, विष्णु, महेश, चन्द्र, सूर्य आदि दिक्पाल, माया, जीव, सभी कर्म और सभी काल॥ ६॥ सर्पराज शेषजी, पृथ्वीके पालन करनेवाले राजा, इत्यादि जहाँतक प्रभुता है, योग और (योगकी) सिद्धियाँ जो वेदशास्त्रोंने वर्णन की है॥ ७॥ इन सबको मनमें खूब विचार कर देखिये (तो जान पड़ेगा कि) श्रीरामजीकी आज्ञा सभीके सिरपर है (सभी शिरोधार्य करते हैं, मानते हैं)॥ ८॥ एतावता श्रीरामजीकी आज्ञा और रुख रखते हुए (वा, रखनेमें) हम सबका भला (भी) हो (वा, होगा), आप सब समझदार और चतुर लोग इसे समझकर मिलकर वही राय ठीक कीजिये॥ २५४॥

नोट—१ भरतजीका मनोरथ लौटानेका है इससे प्रथम श्रीरामजीके गुण कह सुनाये कि ऐसे सद्गुण-युक्तका धर्म कौन तोड़ना चाहेगा और वे स्वयं कब धर्मका त्याग करेंगे। ऊपर अर्धाली ५ तक माधुर्य-ऐश्वर्यमिश्रित वचन कहे। अब रघुनाथजीका केवल ऐश्वर्य-स्वरूप दिखाकर सूचित करते हैं कि जब सब इनके आज्ञाकारी हैं तो हमारा भी कर्तव्य यही है कि उन्हींकी रुचिका पालन करें। उनकी मर्जीके खिलाफ लौट चलनेका हठ करना अपने धर्मसे गिरना है। यह वसिष्ठजीके मतका सार है, निचोड़ है।

'बिधि हरि हर' उत्पत्ति-पालन-संहारकर्त्ता, त्रिगुणात्मक जगत्‌के आधार। सूर्यचन्द्र जगके पालनेवाले—*'जगहित हेतु बिमल बिधुपूषन।'*, दस लोकपाल जो दसों दिशाओंकी रक्षा करते हैं—इन्द्र, कुबेर आदि। विद्या एवं अविद्या माया जिसके वशमें ब्रह्मादिक सभी जगत् और जीव हैं जिससे सब डरते हैं। यथा—*'देखी माया सब बिधि*

गाड़ी।'.........देखा जीव नचावै जाही॥' (१। २०२) **'यन्मायावशवर्तिविश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा.....'**, इत्यादि। कर्म जिसकी डोरीमें सब बँधे हैं,* यथा—*'तैं निज कर्म डोरि दृढ़ कीन्हा'*— (विनय)। जीव तीन प्रकारसे—***'बिषयी साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने॥'*** 'सम्पूर्ण काल'—पल-विपल-दण्ड-घड़ी-प्रहर-दिन-मास-वर्ष-युग आदि। यथा—***'लव निमेष परमानु जुग बरष कलप सर चंड। भजसि न मन तेहि रामको काल जासु कोदंड॥'*** (लं० मं०) पुनः, भूत, भविष्य, वर्तमान।

नोट—२ *'अहिप महिप जहँ लगि प्रभुताई।.........'* इति। अहिप=सर्पराज=शेषजी। महिप=पृथ्वीके राजा, पृथ्वीपति। *'जहँ लगि प्रभुताई'* अर्थात् सप्तद्वीपों, नवों खण्डोंमें तथा स्वर्गादिमें जहाँ कहीं भी जो प्रभुत्ववाले देखे-सुने जाते हैं। *'बिधि हरि हर ससि रबि दिसिपाला'* से स्वर्गवासी, अहिपसे पातालके समस्त प्रभु और महिपसे पृथ्वीके समस्त प्रभुत्ववालोंको सूचित कर दिया। योग और सिद्धिकी व्याख्या बालकाण्डमें कई बार हो चुकी है।

नोट—३ ***'करि बिचार जिय.........'।*** भाव कि भली प्रकार विचार करनेसे ही देख पड़ेगा अन्यथा नहीं। विचार करनेसे क्या देख पड़ेगा यह दूसरे चरणमें कहते हैं—***'रामरजाइ.........'*** श्रीसीतारामजीकी आज्ञा सबके सिरपर है, सब इनकी आज्ञाके अनुकूल ही चलते हैं। मिलान कीजिये—***'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई॥'*** ***'छोटे बड़े खोटे खरे मोटेऊ दूबरे, राम रावरे निबाहे सबही की निबहति। होती जो आपने बस रहती एक ही रस दुनी न हरष सोक साँसति सहति। चाहतो जो जोई जोई लहतो सो सोई सोई केहू भाँति काहू की न लालसा रहति। करम काल सुभाउ गुन दोष जीव जग माया तें सो सभय भौंह चकित चहति। ईसनि दिगीसनि जोगीसनि मुनीसनिहू। छोड़ति छोड़ाये तें गहाये तें गहति॥'*** (वि० २४६), ***'माया जीव कालके करमके स्वभाव करैया राम बेद कहें साँची मन गुनिये।'*** (बाहुक), ***'काल बिलोकत ईस रुख भानु काल अनुहारि। रबिहि राहु राजहि प्रजा बुध ब्यवहरहिं बिचारि॥'*** (दो० ५०४) ऐसे-ऐसे ईश्वर रामाज्ञापर चलें तो हमारा क्या कर्तव्य होना चाहिये—यह समझ लो।

नोट—४ *'राखें राम रजाइ रुख हम सब कर हित होइ। समुझि सयाने.........'* इति। (क) यहाँ वसिष्ठजीने अपना सिद्धान्त कह भी दिया और अलग भी हैं; सबका सम्मत ले रहे हैं। अपना मत कहा कि 'रामरुचि' (रामकी मर्जी) भी रहे और हमारा हित भी जिसमें हो ऐसी सलाह बताओ। पर समझकर कहना। जो हमने कहा है उसे खूब विचार लो। (ख) पां० रा० प्र०, वै—भाव कि उनको आज्ञा न देना पड़े, प्रथम ही हम सब उनके रुखके अनुकूल होकर चलें। *'समुझि'* का भाव कि हमारा सिद्धान्त अच्छा न हो तो और सिद्धान्त विचारो। (ग)—भरतजीने जो सोचा था कि ***'मुनि पुनि कहब रामरुचि जानी'*** वही बात ठीक निकली, भरतजीका विचार ठीक हुआ। दूसरे जो उन्होंने सोचा था कि ***'अवसि फिरहिं गुरु आयसु मानी'*** उसका भी उन्हें उत्तर मिल गया कि गुरुजी लौटनेको न कहेंगे। यह अनुमान भी ठीक निकला।

सब कहुँ सुखद राम अभिषेकू। मंगल मोद मूल मग एकू॥ १॥
केहि बिधि अवध चलहिं रघुराऊ। कहहु समुझि सोइ करिअ उपाऊ॥ २॥
सब सादर सुनि मुनिबर बानी। नय परमारथ स्वारथ सानी॥ ३॥
उतरु न आव लोग भए भोरे। तब सिरु नाइ भरत कर जोरे॥ ४॥

शब्दार्थ—*भोरे*=चकित, स्तम्भित, हक्का-बक्का-सा।

अर्थ—श्रीरामजीका राज्यतिलक सबको सुखदायी है, मङ्गल-मोदकी जड़ वही एक और प्रधान मार्ग

---

* कुलिकर्म यथा अर्थपञ्चके—'उपायाः कथिताः कर्मज्ञानभक्तिप्रपत्तयः। सदाचार्याभिमानश्चेदित्येवं पञ्चधा मता। तत्र कर्म परिज्ञेयं वर्णाश्रमानुरूपतः। नित्यं नैमित्तिकं काम्यं त्रिधा कर्म फलार्थिनाम्। यज्ञो दानं तपो होमं व्रतं स्वाध्याय-संयमः। संध्योपास्तिर्जपः स्नानं पुण्यं देशाटनालयम्। चान्द्रायणाद्युपवासं चातुर्मास्यादिकानि च॥' (वै०)

है*॥ १॥ किस प्रकारसे श्रीरघुनाथजी अवध लौट चलें वही समझकर कहिये, वही उपाय किया जाय॥ २॥ सबने मुनिश्रेष्ठकी नीति, परमार्थ और स्वार्थमें सनी हुई उत्तम वाणी आदरपूर्वक सुनी॥ ३॥ किसीको कुछ उत्तर नहीं आता (उत्तर देते नहीं बन पड़ता, नहीं सूझता), सब स्तम्भित हो गये हैं। तब (सबकी यह दशा देखकर) भरतजी माथा नवाकर हाथ जोड़कर बोले॥ ४॥

नोट—१ अपना सिद्धान्त कह दिया फिर यह देखकर कि यह मत उनको नहीं भाया वे सबके संतोषके लिये यह कह रहे हैं। (पं०) *'सब कहँ'* अर्थात् हमको भी सुखद है, यह न समझो कि हम नहीं चाहते।

नोट—२ *'केहि बिधि अवध चलहिं रघुराऊ।'* श्रीरामजीका रुख लौटनेका न देखा इससे अब 'विधि' ढूँढ़नेको कहते हैं। इससे सबको यह भी जना दिया कि उनकी रुचि क्या है? और जब रुचि नहीं है तब हम तो फिरनेको कहेंगे नहीं। तुम्हीं लोग युक्ति बताओ उसीका उपाय किया जाय। यहाँ भी ***'कहहु समुझि'*** कहकर सावधान कर रहे हैं। जैसे भरतजीने विचार किया था कि ***'केहि बिधि होइ राम अभिषेकू। मोहि अवकलत उपाय न एकू॥'***; वैसे ही गुरुदेव भी अपना विचार प्रकट करते हैं कि ***'केहि बिधि अवध चलहिं रघुराऊ। कहहु समुझि'''''''*** अर्थात् मेरे विचारमें कोई विधि ऐसी नहीं है। ***'रघुराऊ'*** अर्थात् अभिषिक्त होकर चलें।

वि० त्रि०—गुरुजी कहते हैं कि सभी रामजीका अभिषेक चाहते हैं, यहाँतक कि रानी कैकेयी भी अब चाहती हैं, अतः रामाभिषेक सबका लक्ष्य है और इसीमें कल्याण है और स्वयं रामजीको भी इसमें कोई विशेष आपत्ति न होगी, क्योंकि यह निश्चय है कि भरतजी राज्य नहीं लेवेंगे, और महाराजकी कोई निषेधात्मक आज्ञा नहीं है कि रामजी कभी राज्य न करें, अतः उन्हें अभिषेकके लिये राजी किया जा सकता है। अब प्रश्न है कि रामजी किस विधिसे अवध चलें जिसमें धर्ममें बाधा न हो, क्योंकि चौदह वर्ष वनवासके लिये पिताकी आज्ञा है, इसका क्या उपाय है, इसे आप लोग विचारिये। रामजीका रुख किसी भाँति पिताकी आज्ञाके उल्लङ्घन करनेका नहीं है।

नोट—३ ***'नय परमारथ स्वारथ सानी'*** इति। (क) रा० प्र०—***'धर्मधुरीन भानुकुलभानू।'*** २५४ (२) से *'कोउ न राम सम जान जथारथ'* (२५४। ५) तक नीति; *'बिधि हरि हर''''''''* (२५४। ६) से ***'हम सब कर हित होइ।'*** (२५४)। तक परमार्थ। और *'हम सब कर हित होइ। समुझि सयाने करहु''''''''* से *'कहहु समुझि सोइ करिय उपाऊ'* (२५५। २) तक स्वार्थ है।

(५)—मुनिका भाषण। *'बोले मुनिबर समय समाना। सुनहु'* (२५४ । १) उपक्रम और *'सब सादर सुनि मुनिबर बानी।'''''''''* (२५५। ३) उपसंहार है।

भानुबंस भए भूप घनेरे। अधिक एक तें एक बड़ेरे॥ ५॥
जनम हेतु सब कहँ पितु माता। करम सुभासुभ देइ बिधाता॥ ६॥
दलि दुख सजइ सकल कल्याना। अस असीस राउरि जगु जाना॥ ७॥
सोइ गोसाँइ बिधि गति जेंहि छेंकी। सकइ को टारि टेक जो टेकी॥ ८॥

दो०—बूझिअ मोहि उपाउ अब सो सब मोर अभागु।
सुनि सनेहमय बचन गुर उर उमगा अनुरागु॥ २५५॥

शब्दार्थ—**बड़ेरे**=बहुत बड़े।=बड़े। **सजइ**—सजाना=उचित स्थानमें रखना कि सुन्दर जान पड़े, रचना, सजकर-सँवारकर रखना, सुशोभित करना। छेंकना (सं०) **छद**=ढाकना+करण=आच्छादित करना, रोकना, गतिका अवरोध करना, लकीर देकर काट देना, मिटा देना। **टेक**=दृढ़ संकल्प, हठ, अड़, जिद। **टेकना**=हठ करना, ठानना।

* दूसरे गुप्तार्थ यह कहते हैं कि 'तिलकका सरजाम आया है तो मगमें एक यह मङ्गलमोदमूल **बात** तो हो जाय क्योंकि सबको रामतिलक सुखदायी है। वनमें तिलक ही हो जाय।'

अर्थ—सूर्यवंशमें बहुत-से राजा, एक-से-एक अधिक बढ़कर और बड़े हुए॥ ५॥ सबके जन्मके कारण (जन्म देनेवाले) पिता-माता होते हैं और शुभाशुभ कर्मोंके (फल) विधाता देते हैं॥ ६॥ दु:खको दल (नष्ट) करके (उनकी जगहपर) समस्त कल्याणोंको सज देती है—ऐसी आशिष आपकी है, इसे जगत् जानता है (कुछ मैं ही नहीं कहता)॥ ७॥ हे स्वामिन्! आप वही हैं कि जिन्होंने ब्रह्माकी गति रोक दी, जो हठ आपने ठानी उसे कौन टाल सकता है?॥ ८॥ अब आप मुझसे उपाय पूछते हैं! यह सब मेरा अभाग्य है। प्रेमपूर्ण वचन सुनकर गुरुजीके हृदयमें अनुराग उमड़ आया॥ २५५॥

नोट—१ '*भानुबंस भए भूप घनेरे। अधिक एक तें एक*.......' इति।—भाव यह कि इस कुलमें एक-से-एक बढ़कर राजा हुए। यह बात इस कुलमें बराबर निबहती चली आयी, इसका क्या कारण है? कारण सोचनेपर विदित होता है कि माता-पिता तो केवल जन्म दे देते हैं, वे भाग्य नहीं बना सकते; सबको बड़ा नहीं बना सकते। तब यह अनुमान हुआ कि विधाता सबको बड़ाई देते गये, पर विधाताको यह अधिकार नहीं; वे तो जैसे मनुष्यके कर्म होते हैं उसीके अनुसार फल देते हैं। तब सब बड़े हो नहीं सकते। अशुभ कर्मका फल अशुभ होता है। उन्होंने अशुभका फल अशुभ ही ललाटमें अवश्य लिखा होगा, विधि होकर वे अविधि नहीं कर सकते, नियम नहीं तोड़ सकते। तब सबका सदैव कल्याणमय जीवन सम्भव नहीं। इससे यह सिद्ध हुआ कि रघुकुलके राजाओंको अशुभकर्मका फल ब्रह्माने जब-जब दिया तब-तब आप अपने आशीर्वादसे उनके दु:ख नष्ट करके उनका कल्याण करते आये—(वै०, पां०)।

नोट—२ '*अस असीस राउरि*..........' में व्यङ्गसे यह जनाया कि वह असीस अब कहाँ गयी? वही हमको देकर रघुकुलका कल्याण कीजिये। अवध दरबारमें आशिष माँगा था यथा—'*आयसु आसिष देहु सुबानी।*........*आवहिं बहुरि राम रजधानी।*' (१८३। ७-८)।, पर वहाँ आशीर्वाद नहीं दिया गया।

नोट—३ '*सोइ गोसाँइ बिधिगति जेहि छेंकी*........'।—बारम्बार अशुभ संस्कारोंको मिटाकर मङ्गल सज दिया, यह विधाताकी गतिका बारम्बार रोकना और ललाटकी रेखाका मिटाना है। और भी गति छेंकनेके उदाहरण ये हैं—

१—भा० स्क० ९ अ० १—वैवस्वत मनुके पुत्र न था। वसिष्ठजीने राजासे मित्रावरुण देवका यज्ञ कराया। मनुकी स्त्री श्रद्धा जिसने यज्ञकी दीक्षा ली थी उसने होताके पास जाकर कन्याके लिये प्रार्थना की। उसने आहुति छोड़ते समय एकाग्रचित हो कन्याका संकल्पकर आहुति छोड़ी। होताके इस व्यतिक्रमसे इला नामकी एक कन्या पैदा हुई। मनुजी प्रसन्न न हुए। गुरुसे पूछा कि यह विपरीत फल कैसे हुआ। उन्होंने ध्यान धरके देखा तो सब हाल जान गये। राजासे सब कहकर वे बोले कि हम अपने ब्रह्मतेजसे आपकी कामना पूर्ण करेंगे। यह संकल्पकर उन्होंने आदि पुरुष भगवान्‌की स्तुतिकर उनको संतुष्ट किया और इच्छानुसार वर पाया; अब इला कन्या राजकुमार सुद्युम्न हो गयी। एक बार शिकार करते हुए ससमाज सुद्युम्न सुमेरु पर्वतकी तलहटीके एक गिरिजाशङ्कर विहारवनमें पहुँचा, वहाँ प्रवेश करते ही—(शिवजीके पूर्व शापवश कि जो इस वनमें आयगा, स्त्री हो जायगा)—सब स्त्री हो गये। पास ही एक वनमें चन्द्रमाका पुत्र बुध तप कर रहा था। वह सुद्युम्नको देख मोहित हो गया और यह भी उसपर, दोनों साथ रहने लगे। एक समय उसने वसिष्ठजीका स्मरण किया, वे आये और राजकुमारकी यह दशा देख उन्हें दया आ गयी। उन्होंने भगवान् शिवकी स्तुतिकर उनको प्रसन्न किया। शिवजीने वर दिया कि एक मास स्त्री रहे और एक मास पुरुष होकर राजकाज करें।

२—दशरथजीके पुत्र नहीं हुए। उनको आशीर्वाद दिया। साठ हजार वर्षकी अवस्थामें पुत्र हुए।

३—वसिष्ठजी पुरोहित नहीं होते थे। ब्रह्माने समझाया कि त्रेतामें परब्रह्म परमात्मा इस कुलमें अवतीर्ण होंगे तब उन्होंने स्वीकार किया। युगका क्रम था सत्ययुग, द्वापर, त्रेता। पर इन्होंने देखा कि सत्ययुगके बाद द्वापर बीते तब कहीं त्रेता आवेगा। इतने समयतक राह देखना सहन न कर सके और अपने प्रभावसे ब्रह्माकृत युगोंका क्रम पलट दिया। त्रेताको प्रथम और द्वापरको उसके पीछे कर दिया। (प्रमाण हमको नहीं मिला)।

४—विश्वामित्रजीको श्रुतियोंतकने महर्षि कहा, पर ये अपनी टेकपर रहे। ब्रह्माने भी उनको ब्रह्मर्षि कहा तब भी विश्वामित्रने अपनेको ब्रह्मर्षि न माना; यही कहा कि जब वसिष्ठ कह दें तब हम जानें कि हम ब्रह्मर्षि हो गये अर्थात् ब्रह्माकी लिपिसे भी आपकी बातको उन्होंने अधिक माना। ब्रह्माके कहनेपर

भी, जबतक विश्वामित्रको अहंकार रहा इन्होंने उनको ब्रह्मर्षि न कहा। और पीछे इन्होंने कहा—इसमें भी मतभेद है। कहीं-कहीं ऐसा लिखते हैं कि इनका रूप धारण करके ब्रह्माने दूसरेसे कहला दिया।

५ मा० म०—महाराज दिलीप और सुदक्षिणाके विवाहमें लोगोंने गठबन्धन दृढ़तासे किया। वसिष्ठजीके पूछनेपर कहा गया कि गाँठ खुलते ही विधिने इनकी मृत्यु लिखी है। यह सुनकर आपने मृत्यु-योग मिटा दिया।

६ वे० भू० पं० रामकुमारदासजी—उपर्युक्त कल्पनाएँ यहाँ इसलिये ठीक नहीं हैं कि इसके ऊपरकी चौपाइयोंमें श्रीभरतजीका कहना ही पूर्वजोंमात्रके सम्बन्धमें है—'*भानु बंस भे भूप घनेरे*' से '*असि असीस राउरि जग जाना*' तक। भरतजी कहते हैं कि आपके आशीर्वादके इस (दु:खनाशक कल्याणोत्पादक) प्रभावको समस्त जगत् जानता है। भाव यह कि मैं चापलूसीके रूपमें अर्थवादोक्ति नहीं कर रहा हूँ।

युग परिवर्तनकी कल्पना सर्वथा मिथ्या है; क्योंकि जहाँ कहीं युगोंका वर्णन है वहाँ सर्वत्र कृतयुगके बाद ही त्रेता और त्रेताके बाद द्वापरका उल्लेख है। कल्पादिमें ही व्यवस्था इसी तरहसे की जाकर युगोंकी आयु निर्धारित कर दी गयी। सन्ध्यांश लेकर कृतयुगकी आयु मानव-वर्षोंसे सत्रह लाख अट्ठाईस सहस्र वर्ष, त्रेताकी आयु १२ लाख ९६ सहस्र वर्ष, द्वापरकी ८ लाख ६४ सहस्र और कलिकी ४ लाख ३२ सहस्र वर्ष है। इस आयु एवं क्रमकी व्यवस्थाका परिवर्तन किसीने बीचमें नहीं किया। कुछ लोग अपने अज्ञानके कारण द्वापर-शब्दसे दूसरा युग और त्रेतासे तीसरा युग मानकर परिवर्तनकी अनर्गल कल्पना कर बैठे हैं। वास्तवमें जिस युगमें धर्मके सभी चरणोंकी प्रधानता रहती है अर्थात् धर्मके सभी अङ्गोंका कड़ाईसे पालन किया जाता है उसका नाम 'कृत' किंवा 'सत्य' युग है, जिस युगमें धर्मका एक चतुर्थांश (१ चरण) तप शिथिल हो जाता है उसका नाम त्रेता है अर्थात् वह धर्मके तीन चरणोंवाला युग है, इसी तरह जिस युगमें धर्मके दो चतुर्थांश (दो चरण) तप और यज्ञका ह्रास होकर केवल दो ही चरण पालित होते हैं उसे 'द्वापर' अर्थात् धर्मके दो चरणोंवाला युग कहा जाता है, और जब धर्मके सभी अङ्ग (चरण) नष्टप्राय हो जाते हैं, केवल 'कलि' अर्थात् पाप या कलह ही जिसका प्रधान धर्म बन जाता है उसे 'कलि' अर्थात् पाप या कलहका युग कहा जाता है। यथा—'*कलि केवल मलमूल मलीना। पाप पयोनिधि जन मन मीना॥*', '*कलिमल ग्रसे धर्म सब*……।' '*कलि प्रभाव बिरोध चहुँ ओरा।*' अत: वसिष्ठजीको युग परिवर्तनकारी बतलाना शास्त्रपुराणानभिज्ञताका परिचायक है। विश्वामित्रजीका ब्रह्मर्षित्व तो विश्वामित्रजीके तप तथा अस्त्र-त्याग आदिसे हुआ, वसिष्ठजीके आशीर्वाद एवं तप:प्रभावसे नहीं और विश्वामित्र भानुवंशी भी नहीं हैं। दशरथजीके पुत्रावरोधमुक्तत्वके कारणमें वसिष्ठजीके आशीर्वादकी कोई बात नहीं आती, अपितु शृङ्गी ऋषिका यज्ञ-कार्य-निमित्त बनकर अग्निके प्रादुर्भावपूर्वक चरु (हवि) का वितरण कराया।

हाँ, सुद्युम्न मनु वंशमें थे। इनके दोनों बारका (स्त्रीत्व एवं पुंस्त्व) परिवर्तन वसिष्ठजीके आशीर्वाद एवं तप:प्रभावसे ही हुआ था। 'कृतवास रामायणके अनुसार पुरुष-संयोगके बिना ही उत्पन्न होनेके कारण महाराज भगीरथके शरीरमें अस्थि नहीं थी, वह वसिष्ठजीके आशीर्वादसे हो गयी। (मानस-मयंकानुसार दिलीपपुत्र 'रघु' का मृत्युयोग वसिष्ठजीके आशीर्वादसे मिट गया, जिसका स्पष्टीकरण महात्माओंने इस तरह बताया है कि 'रघु' की जन्मपत्रीमें ऐसा विधिकृत योग पड़ा था कि विवाहकालमें सातवीं भाँवरी पूर्ण होते ही 'रघु' का सिर फट जायगा, इसी डरसे महाराज दिलीपजी 'रघु'का विवाह नहीं होने देते थे। जब वसिष्ठजीकी आज्ञासे दिलीपने रघुके विवाहकी अनुमति दी और वैवाहिक अन्य कृत्य हो जानेके पश्चात् जब भाँवरी पड़ने लगी, उस समय जब आगे-आगे वर और पीछे-पीछे दुलहिन घूमती हुई चार परिक्रमा कर चुके तब वसिष्ठजीने (भाँवरी) परिक्रमा रोककर अपना (गुरु) पूजन कराया। पूजनान्तमें जब रघुने प्रणाम किया तो वसिष्ठजीने आशीर्वाद दिया कि 'चिरंजीव' हो। तत्पश्चात् उन्होंने अवशिष्ट भाँवरोंको फेर (उलट) दिया (अर्थात् अबकी बार आगे-आगे दुलहिन और पीछे-पीछे दूलह (रघु) होकर एक, दो, तीन कहकर भाँवरी फेरने लगे; पाँच, छ:, सात गिना ही नहीं)। इस तरह वहाँ श्रीवसिष्ठजीने विधिगतिको छेंक (रोक) दिया, केवल अपने आशीर्वादमात्रसे। कहा जाता है कि तभीसे रघुकुलमें भाँवरी फेर देने (पलट देने) की कुल-रीति बन गयी कि चार बार वर आगे रहे और पश्चात् तीन बार कन्या आगे रहे, इसका संकेत मानसमें इस तरह है कि प्रथम तो कहा

कि—*'कुँवर कुँअरि कल भाँवरि देहीं'* फिर उसके पश्चात् कहा कि *'सीय राम सुंदर प्रतिछाहीं'।* ऐसा क्यों हुआ तो इसका कारण आगे चलकर बतलाया कि, *'प्रमुदित मुनिन्ह भाँवरी फेरी। प्रीति सहित सब रीति निबेरी॥'* इसी तरहकी या इन उपर्युक्त घटनाओंसे विलक्षण घनी घटनाएँ संघटित हो सकती हैं। श्रीभरतजी तो ('घनेरे') भूपोंका हवाला देते हैं—वास्तवमें भरतजीके इन उद्धरणोंका लक्ष्य यह है कि गुरुदेव महर्षि श्रीवसिष्ठजीके उस अमोघ आशीर्वादका प्रयोग मेरे लिये भी इस समय होना चाहिये।

'सोइ गोसाईं' में व्यङ्ग यह है कि आप वही हैं, भानुवंश वही है और मैं भी उसीमें हूँ; फिर अब क्यों नहीं वैसा ही करते हैं?

नोट—४ *'बूझिय मोहि उपाउ अब''''''''*'। भाव कि—(क) पूर्व कभी किसी अमङ्गल दुःख मिटानेका उपाय न पूछा था, आशीर्वाद देकर कल्याण सज दिया था। जब हमारी बारी आयी तब आप उपाय पूछते हैं? इसमें आपका दोष नहीं, आप तो वैसे ही सिद्ध अब भी हैं पर हमारा अभाग्य है कि आप उपाय पूछते हैं, आशिष देकर दुःख मिटा नहीं देते। कन्यासे पुत्र किया तब वनसे अवध ले जाना तो सहज ही बात है। (ख) यह मुनिके *'कहहु समुझि सोइ करिय उपाऊ'* का उत्तर है।

तात बात फुरि राम कृपाहीं। राम बिमुख सिधि सपनेहुँ नाहीं॥ १॥
सकुचउँ तात कहत एक बाता। (अरध तजहिं बुध सरबस जाता॥ २॥
तुम्ह कानन गवनहु दोउ भाई। फेरिअहिं लषन सीय रघुराई॥ ३॥
सुनि सुबचन हरषे दोउ भ्राता)। भे प्रमोद परिपूरन गाता॥ ४॥
मन प्रसन्न तन तेजु बिराजा। जनु जिय राउ रामु भए राजा॥ ५॥
बहुत लाभ लोगन्ह लघु हानी। सम दुख सुख सब रोवहिं रानी॥ ६॥

शब्दार्थ—'**बिमुख**'=विरुद्ध, प्रतिकूल, खिलाऊ, अप्रसन्नतासे। '**फेरिअहिं**'=लौटा दें या लौटा दो=फेरिये, लौटा दिया जाय।

अर्थ—हे तात! बात सत्य है, पर यह रामकृपासे ही (हुआ)। श्रीरामजीसे विमुख होकर स्वप्नमें भी सिद्धि नहीं हो सकती॥ १॥ हे तात! एक बात कहते हुए सकुचाता हूँ—बुद्धिमान् लोग सर्वस्व जाता देख आधा छोड़ देते हैं॥ २॥ तुम दोनों भाई वनको जाओ, श्रीसीता-राम-लक्ष्मणको लौटा दिया जाय॥ ३॥ यह सुन्दर श्रेष्ठ वचन सुनकर दोनों भाई हर्षित हुए, सर्वांग सारा शरीर अत्यन्त आनन्दसे परिपूर्ण भर गया॥ ४॥ मन (ऐसा) प्रसन्न हो गया, शरीरमें तेज विराजमान हो गया, मानो राजा जी उठे और रामचन्द्रजी राजा हो गये॥ ५॥ लोगोंको लाभ बहुत और हानि कम जान पड़ी। सब रानियाँ दुःख-सुख समान ही समझकर रो रही हैं*॥ ६॥

☞ कोष्ठकमें दिया हुआ अंश राजापुरकी पोथीमें नहीं है।

नोट—१ (क) *'रामबिमुख सिधि सपनेहुँ नाहीं।'* भाव कि रामजीकी मर्जी जिसमें न हो, जिस कार्यको वे करना नहीं चाहते वह कार्य यदि मुनि करना चाहें तो उसमें कदापि सफलता नहीं हो सकती, उसमें उनकी कृपाकी सहायता नहीं मिलती। (ख)—इससे जनाया कि इस समय श्रीरामजीकी इच्छा वनवासकी है, हम उसके विरुद्ध चाहें तो हमें कार्यमें सिद्धि नहीं हो सकती। दूसरे सब कार्योंकी सिद्धिमें रामकृपा ही साध्य और प्रधान ठहराया। मिलान कीजिये—*'श्रुति पुरान सब ग्रन्थ कहाहीं।''''''''फूलहिं नभ बरु बहु बिधि फूला। जीव न लह सुख हरि प्रतिकूला॥ तृषा जाइ बरु मृगजल पाना। बरु जामहिं सस सीस बिषाना॥ अंधकार बरु रबिहि नसावइ। रामबिमुख न जीव सुख पावइ॥ हिमतें अनल प्रगट बरु होई। बिमुख राम सुख पाव न कोई॥'* (उ० १२२। १४। १९)।

---

* दीनजी अर्थ करते हैं कि—'(तब वसिष्ठजीने कहा यह सब तो ठीक है कि) लोगोंको बड़ा लाभ होगा और हानि कम होगी पर रानियोंको सुख और दुःख दोनों बराबर ही होगा, वे रोवेंगी।

२—*'अरध तजहिं बुध सरबस जाता'*— यह लोकोक्ति है*। साधारण व्यवहारमें यह नित्य देख लीजिये। न्यायालय (कचहरियों) में नित्य ही देखनेमें आता है। जब लोग देखते हैं कि सभी हाथसे जाता देख पड़ता है पर आधा परधा छोड़ देनेसे बाकी तो मिल ही जायगा तब वे इस लोकोक्तिपर चलकर आधा ही बचा लेते हैं। मुनिने तो यह लोकोक्ति कही। सर्वस्व और अर्द्धत्यागसे उनका क्या अभिप्राय है यह वे स्वयं कहते हैं—*'तुम कानन गवनहु'।* इससे यह न समझना चाहिये कि वे तीन सर्वस्व हैं और ये दो आधे हैं। भाव यह है कि पिताका वचन रखना ही चाहिये और देवहित भी होना चाहिये। इससे कुछ त्याग अवश्यमेव होगा। महानुभावोंने अर्द्ध और सर्वस्वके अनेक भाव कहे हैं। कुछ यहाँ दिये जाते हैं। गौड़जीने उन सबपर आलोचना की है वह भी यहाँ दी जाती है—

वै०—सर्वस्व चारों भाई हैं। भरतजी भोग, ऐश्वर्य, सर्व त्यागकर मनाने आये हैं तो उनके न लौटनेसे ये कब लौटेंगे और इनके जानेसे शत्रुघ्नजी भी साथ जायेंगे। इस प्रकार चारों हाथसे जाते हैं। यदि राम-लक्ष्मणके बदलेमें वे दोनों जायँ तो दो ही फिर भी घर रहेंगे।

शिला—शंका-दो बनको जायँ, तीन लौटें तो आधा कैसे हुआ? समाधान—भरतजी चाहते हैं कि रामसेवा भी मिले और कलंक-अपयश भी दूर हो दोनों लाभ चाहते हैं। उसीको लक्ष्य करके गुरुजी कहते हैं कि दोनों नहीं मिल सकते; एक लो, एकका त्याग करो। यश लो, सेवा छोड़ो।

रा० प्र०—(क)—अर्द्ध त्याग किस रीतिसे? दो गये तीन मिले और भी लाभ है, आधेकी कहावत है। वा, (ख) राम-राज्याधिकारी हैं, अतः सर्वस्व हैं और भरतजी सेवा-अधिकारी हैं, अतः अर्ध हैं—*'जेठ स्वामि सेवक लघु भाई'।* वा (ग) रामजी (हविष्यके) आधे भागसे हुए और भरतजी चौथाईसे। अतः राम सर्वस्व और ये आधे हैं। लक्ष्मण और सीताजीको तो वनवास नहीं दिया गया, वे अपने मनसे साथ हुए।

पु० रा० कु०—श्रीसीताराम एक उनके बदले तुम जाओ, लक्ष्मणके बदले शत्रुघ्न।

पु० रा० कु०—'राम फिरें तुम जाओ' यह मुनिने भरतजीकी परीक्षा ली। भागवतकी परीक्षा ली, इसीसे हार मानना पड़ा, पहले भी और अब भी—*'मुनि मति ठाढ़ि तीर अबला सी।'*

गौड़जी—यह लोकोक्ति है कि सब जाता हो तो लोग अर्द्ध या अंशपर ही संतोष कर लेते हैं। यहाँ ठीक आधा अभिप्रेत भी नहीं है। भाव यह है कि मेरे लिये और अवधवासियोंके लिये सीताराम ही सर्वस्व हैं। वह तुम्हारे बदले लौटें तो तुम्हारा त्याग हमारे सर्वस्वकी हानि नहीं होगी। उनके लौटनेसे लक्ष्मणजी जरूर लौटेंगे और तुम्हारे साथ शत्रुघ्नजी जरूर जायेंगे। इसीलिये सीधा प्रस्ताव तीनके लौटने और दोके जानेका हुआ! वसिष्ठजी इस समय कोई निकासी न देखकर यह भद्दा-सा प्रस्ताव करते हैं। इसमें भरतजीकी परीक्षाकी कोई बात नहीं है; क्योंकि वह तो भरतजीकी भायप भक्तिसे स्वयं हैरान हैं, परीक्षा क्या लेंगे! उनके प्रस्तावमें भद्दापन यह है कि उससे न राजाकी बात रहती है न वरदान रहता है, न देवताओंका कोई काम सधता है। फिर भरत वन क्यों जायँ, क्या उन्हें राम-राज्य खलेगा? राजासे कैकेयीने जो वर पाये उससे बिलकुल विपरीत यह प्रस्ताव होता है। धर्मनीतिके जाननेवाले वसिष्ठ यदि घबरा न गये होते तो यह प्रस्ताव ही न करते। यहाँ तो *'मुनि मति ठाढ़ि तीर अबला सी।' 'पावा नाउ न बोहित बेरा'।।* ही चरितार्थ होता है।

नोट—'रघुराई' शब्द देकर जनाया कि वसिष्ठजी श्रीरामजीको अब भी 'रघुराज' ही मानते हैं (प० प० प्र०)।

पु० रा० कु०—१ *'जनु जिय राउ राम भए राजा'* इति। सुमित्राजीने लक्ष्मणजीसे कहा था कि *'उपदेसु एहु जेहि तात तुम्हरे रामसिय सुख पावहीं। पितु मातु प्रिय परिवारु पुर सुख सुरति बन बिसरावहीं॥'* (७५)' *'आत्मा वै जायते पुत्रः'* पुत्र पिताकी आत्मा है। श्रीराम-लक्ष्मणके फिरनेसे पिताका सुख मिला मानो वे ही जी उठे उनका दुःख भूल गया। श्रीभरतजीको दो दुःख थे—पितु-मरण और राम-वनवास। दोनों मिट

* यथा शुक्रनीतौ—'सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पण्डितः। अर्धेन कुरुते कार्यं सर्वनाशो हि दुस्तरः॥' अर्थात् पण्डित जब सर्वस्वका नाश होता देखते हैं तब आधा छोड़ देते हैं और आधेसे काम चलाते हैं क्योंकि सर्वका नाश असह्य हो जाता है। लोकोक्ति है 'सर्वस देखिये जात आधा देइये बाँट'। (शुक्रनीतिमें नहीं मिला)

गये। इसीसे वही दो बातें यहाँ कहीं।

२ *'अधिक लाभ लोगन्ह······'* इति। लोगोंको बहुत लाभ जान पड़ा, क्योंकि राम बड़े हैं, दूसरे वे जितना सुख उनसे मानते हैं उतना किसीसे नहीं, यथा—*'चारिउ रूप सील गुन धामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा॥'* भरतजीसे राम और शत्रुघ्नजीसे लक्ष्मण बड़े, और सीताजी भी। अत: अधिक। माताएँ सब पुत्रोंको समान मानती हैं; उनके लिये जैसे राम-लक्ष्मण वैसे भरत-शत्रुघ्न, उनको न लाभ हुआ, हानि ज्यों-की-त्यों बनी रही। वे सोचती हैं कि हमारा दु:ख तो बना ही रहेगा, दोका रोना अब, वैसे तब।

राजापुरकी पोथी

पं० श्रीविजयानन्द त्रिपाठी (काशीजी)—श्री १०८ गोस्वामीजी श्रीरामचरितमानसमें *'जहाँ प्रेम तहँ नेम नहिं'* का अनुसरण करते हुए-से मालूम होते हैं। सातो काण्डोंमें कोई भी नियम निबहने नहीं दिया। छ: काण्डोंमें श्लोकसे मंगलाचरण करते हुए भी लंकामें *'लव निमेष परिमान युग'* इत्यादि दोहेसे मंगलाचरण कर दिया। केवल अयोध्याकाण्डमें प्रायेण नियम निबहा है, परन्तु उसमें भी कई जगहोंपर ७ अर्धालियाँ हैं, २५ दोहेपर बराबर छन्द आया है, परंतु एक स्थलपर २६ दोहेपर छन्द दिया है, अतएव किसी विशेषस्थलमें ६ अर्धाली भी आश्चर्यजनक नहीं है।

राजापुरके प्रतिको मैं प्राचीनतम प्रतिष्ठित प्रति मानता हूँ। मैं जहाँतक समझता हूँ श्रीगोस्वामीजीने कोई प्रति स्वयं लिखी ही नहीं। महाभारतके लेखक गणेशजीकी भाँति श्रीरामचरितमानसके भी कोई गणेश स्थानीय अवश्य थे, नहीं तो ४०० वर्ष कुछ बहुत समय नहीं होता कहींपर कोई खण्ड उस महापुरुषके हाथका लिखा अवश्य उपलब्ध होता। प्राचीन महाकवि व्यास, वाल्मीकि आदिने अपनी रचना कहीं लिखी नहीं। उनसे सुनकर लोगोंने लिपिबद्ध कर लिया। श्रीगोस्वामीजीने भी इसी प्रथाका अनुसरण किया। जबसे गुरुमुखसे सुना तभीसे भीतर-ही-भीतर मन्थन हो रहा था, वृद्धावस्थामें *'सुखद शीत रुचि चारु चिराना'* हुआ। फिर *'भइ कबि बुद्धि बिमल अवगाही। चली सुभग कबिता सरिता सो॥ राम बिमल यश जल भरिता सो॥'* किसकी सामर्थ्य कि उस समय लिख सके? इसीलिये श्रीगोस्वामीजी श्रीरामनवमीपर 'कथाका आरम्भ' 'चरितका प्रकाश' करना लिखते हैं। यथा—*'बिमल कथा कर कीन्ह अरंभा', 'अवधपुरी यह चरित प्रकासा।'* इत्यादि। अपि च यह रचना समाधि-अवस्थामें हुई, जाग्रत्में नहीं। इसीलिये श्रीगोस्वामीजी 'लिट्' का प्रयोग करते हैं। यथा—'**भाषाबद्धमिदं चकार तुलसीदासः**' और '**परोक्षे लिट्**' प्रत्यक्षमें लिट्का प्रयोग नहीं होता। सो समाधि-अवस्थामें लिखा जाना सम्भव नहीं। अतएव हमलोगोंको उनके लिखे हुए ग्रन्थका ध्यान छोड़ देना चाहिये। अयोध्यापुरीका बालकाण्ड, राजापुरका अयोध्याकाण्ड और काशिराजकी प्रति तथा सं० १७२१ की प्रतिके शेष काण्ड प्राचीनतम तथा प्रतिष्ठित हैं। उनसे भी पाठ-शोधनमें बड़ी सावधानताकी आवश्यकता है।

मैं अब भी कहता हूँ कि *'अरध तजहिं बुध सरबस जाता'* आदिकी आवश्यकता नहीं है। ऐसी धारणा प्रसंगपर ध्यान देनेसे होती है। बल्कि इनका सामञ्जस्य नहीं बैठता। सर्वस्व क्या है? अर्ध क्या है? जो अर्ध बतलाया जाता सो वस्तुत: अर्ध होता है कि नहीं? लखन-सीय-रघुराईके लौटनेमें दोनों भाइयोंके वन जानेकी कारणता कैसे हुई? इन प्रश्नोंका यथार्थ उत्तर नहीं मिलता। *'तुम कानन गवनहु दुहु भाई'* ऐसा गुरुका आदेश सुनकर भी उनसे *'कीजिय प्रवान'* कहकर प्रमाण माँगना और वनको न चला जाना, और गुरुजीके *'सकुचहुँ तात कहत इक बाता'* कहकर एकदम न ठहरना, और बेधड़क उस बातको कह डालना अस्वाभाविक मालूम होता है।

यह बात अवश्य है कि अयोध्याकाण्डमें पदे-पदे गुप्त भाव भरे हुए हैं और कठिनतासे हाथ आते हैं। इस काण्डमें आदेशसे काम नहीं लिया जाता, रुखसे काम लिया जाता है। भरतजीको सोचते-सोचते रात बीत गयी, कोई युक्ति सरकारके लौटनेकी स्थिर न कर सके। कौन भरतजी? जिनकी महिमा-सिन्धुके किनारे *'मुनि मति तीर ठाढ़ि अबला सी।'* उनके मनमें यह धर्मसम्मत युक्ति भी आयी कि 'पिताने सरकारको १४ वर्षके लिये वन दिया, मुझे राज्य दिया। सो सरकार मंजूर करके बन आये पर मुझे मंजूर नहीं है, इसलिये दोनों भाई अपना-अपना हिस्सा अदल-बदल कर लें, इस भाँति सरकारके धर्ममें पीड़ा न होगी। केवल यही एक युक्ति है, जिसे धर्मसम्मत कह सकते हैं। पर यह प्रमाण न होने पावेगी, सरकार मुझे

भी पिताकी आज्ञासे हटने न देवेंगे।' इसलिये यह युक्ति भी नहीं ठहर सकी।

यहाँ सभामें मुनिजी सरकारके लौटनेका उपाय पूछने लगे, भरतजीने खिजलाकर कहा कि '*बूझिय मोहि उपाउ अब सो सब मोर अभाग।*' इसपर गुरुजीने उसी एकमात्र उपायको कहना चाहा, परंतु उस उपायका कहनेवाला भी कैकेयीकी भाँति निन्द्य समझा जावेगा, अतएव इतना ही कहकर ठहर गये कि '*सकुचौं तात कहत इक बाता*'॥

मुनिजीके मुखसे यह बात निकलते ही समझनेवाले लोग समझ गये कि वह कौन-सी बात है। भरतजी प्रसन्न हो उठे कि इस बातपर यदि मुनिजी स्थिर हो जायँ तो सरकारको भी मानना पड़ेगा, रह गयी यह बात कि मुझे निष्कारण वन भेजनेकी बात कहनेमें मुनिजीको संकोच है, सो यह वन जाना मुझे परम इष्ट है, अतएव मुनिजीके संकोच मिटाने, और उनसे आज्ञा प्राप्त करनेके लिये कहते हैं कि '*कानन करहुँ जनम भर बासू। एहि ते अधिक न मोर सुपासू॥''''''नाथ निज कीजिय बचन प्रवान*' इत्यादि।

यह बात अवश्य है कि इस प्रकार अर्थ करनेमें दोनों भाइयोंके हिस्से अदल-बदलवाली बातकी कल्पना करनी पड़ेगी। परंतु भरतके वन भेजनेमें ऐसी कल्पना बिना किये अर्थ बैठ ही नहीं सकता, चाहे कोई भी अर्थ किया जाय।

पच्चीकारोंने सच्ची-पच्ची करनेके लिये अर्धालीके दो पदोंके बीचमें पच्ची किया है। यदि लेखकके भ्रमसे अर्धाली छूटी होती तो पूरी-की-पूरी छूटती।

इसी भाँति और स्थानोंमें भी अर्थ हो जाता है। शीघ्रताके कारण अति संक्षेपमें लिखा।*

२—मा० सं०—इसकी और श्रावणकुञ्ज श्रीअयोध्याजीके बालकाण्डवाली प्रतिकी लेखशैलीके देखनेसे मेरा यह पुष्ट अनुमान—अनुमान ही नहीं वरं पूर्ण विश्वास—है कि राजापुरकी पोथी संवत् १६६१ से भी पहलेकी लिखी हुई है। गोस्वामीजीके हाथकी दोनों ही नहीं हैं, पर उनकी पोथीकी प्रतिलिपि होनेकी सम्भावनाका पूर्ण अवकाश है। कोई कारण इसमें सन्देह करनेका जान भी नहीं पड़ता। यदि जनताको धोखा देने और पुजानेके लिये ही पोथी रखी गयी थी तो एक ही काण्ड क्यों रखा गया और भी क्यों न बनाकर रखे गये। जैसा प्राय: लोगोंका विश्वास है गोस्वामीजीकी दी हुई होनेसे लोग उसे उनकी हस्तलिखित कहने लगे हों, यह हो सकता है।

गोस्वामीजीके समयकी और कोई पोथी नहीं सुनी गयी है। एक मलीहाबाद जिला लखनऊमें कही जाती है; परंतु जहाँतक मुझको मालूम हुआ है वह शुद्ध नहीं है। क्योंकि साकेतवासी महात्मा श्रीरामप्रसादशरणजी रामायणीने वहाँ जाकर उसे देखा था और उसकी पूजा की थी। वे कहते थे कि उसमें गङ्गावतरणकी प्रक्षिप्त कथा है। गोस्वामीजीकी साकेतयात्राके बहुत पीछे अन्य पोथियाँ लिखी गयीं, पर कहाँसे, यह निश्चय नहीं।

महात्मा श्रीवेणीमाधवदासजीकृत मूल गोस्वामी-चरितके देखनेसे यह जाना जाता है कि गोस्वामीजीकी हस्तलिखित मूल प्रति जिसपर '**सत्यं शिवं सुन्दरम्**' रूपसे भगवान् विश्वनाथकी प्रसिद्ध सही थी वह श्रीटोडरमलजीके घर रखी थी—'*जाय धरे टोडर सदन पोथी यतन कराय।*'

श्रीअयोध्याके महात्मा श्रीबालकराम विनायकजीने मूल गोस्वामी-चरितके अनुवादमें उपर्युक्त अवतरणपर एक पादटिप्पणी दी है। वह इस प्रकार है—

श्रीयुत टोडरमलजी रईस बनारसके घर वह अमूल्य पुस्तक चाँदीकी मञ्जूषामें रखी गयी थी और उसकी पूजा नित्य हुआ करती थी। उसके बारेमें गुसाईंजीने यह कह रखा था कि जिस दिन वह पुस्तक तुम्हारे घरसे निकलकर दूसरेके घर जायगी उसी दिन वह इस लोकसे लुप्त हो जायेगी। ऐसा हुआ भी। कई पीढ़ियोंके पीछे उस परिवारके नायक अनन्तमलजी हुए। उनकी एक परम प्यारी कन्या थी। उस पुस्तकमें उसका अविचल प्रेम था, क्योंकि बालपनसे वह नित्य उसकी पूजा किया करती थी। जब उसका विवाह हुआ और वह विदा होकर ससुराल जाने लगी तब चुपकेसे उसने उसे अपनी डोलीमें रख लिया।

---

* लाला सीतारामका भी एक लेख पं० रामनरेश त्रिपाठीजीके उत्तरमें माधुरीमें निकला था पर वह मुझे इस समय उपलब्ध नहीं हुआ इससे उसे यहाँ नहीं दे सका हूँ।—(सम्पादक)

रास्तेभर तो वह पुस्तक विद्यमान थी पर जब वह पतिके गृहमें उतरी तब वह लुप्त हो गयी। उसके वियोगमें उस कन्याने अपना शरीर ही त्याग दिया।'

अस्तु। अब, हम इस प्रामाणिक आधारसे इस निश्चयपर पहुँचते हैं कि गोस्वामीजीकी हस्तलिखित वही एकमात्र प्रति थी जो आगे चलकर किसी समय लुप्त हो गयी, वह अब नहीं है। तब उनकी मूल प्रतिकी किसीमें सम्भावनाका अवकाश नहीं रहा। जो हैं सो सब प्रतिलिपियाँ ही हैं। अतः राजापुरकी भी प्रतिलिपि ही है; पर सबसे प्राचीन और गोस्वामीजीके समयकी ही है उनकी मूल प्रतिसे ही नकल की हुई है।

जहाँ पण्डितोंकी समझमें कोई शब्द न आया वहाँ उसका सुधार नवीन पाठद्वारा कर दिया गया है। बहुतसे पाठान्तरोंका कारण तो यही जान पड़ता है—यह बात आजकलके अनेक संस्करणोंके देखनेसे भी निस्संदेह सिद्ध है। पं० रामेश्वरभट्ट, सूर्यदीन शुक्ल आदिकी छपी प्रतियोंको देख लीजिये। गोस्वामीजीका अथवा प्राचीन प्रतिलिपियोंका पाठ क्या है इससे सरोकार नहीं; हमारे समझमें क्या ठीक है वही पाठ गोस्वामीजीका है—यह आजकलकी प्रथा है।

इस काण्डमें प्रायः आठ-आठ चौपाइयाँ सर्वत्र हैं पर कहीं-कहीं सात भी हैं और कुछ राजापुरवालीमें ही नहीं अन्य भी सभी प्राचीन प्रतियोंमें कम-से-कम एक या दो जगह नियमका भङ्ग होना पाया जाता है। इसका कारण कविकी इच्छामात्र है। दो स्थलोंमें जहाँ राजापुरकी पोथीमें ७ चौपाइयाँ हैं अन्य कई प्रतियोंमें ८ हैं। इसका कारण मेरी समझमें यह भी हो सकता है कि कविने पहले वैसा ही लिखा हो, पीछे बढ़ा दिया हो। पर उनके बिना भी अर्थमें अड़चन नहीं पड़ती। यह भी हो सकता है कि औरोंने ही आठका क्रम रखनेके लिये बढ़ा दी हों।

यहाँ केवल ६ चौपाइयाँ हैं और इन्हींपर यहाँ विचार करना है—

'सकुचौं तात कहत एक बाता। अरध तजहिं बुध सरबस जाता॥
तुम्ह कानन गवनहु दोउ भाई। फेरिय लखन सीय रघुराई॥
सुनि सुबचन हरषे दोउ भ्राता। भे प्रमोद परिपूरन गाता॥

राजापुरकी प्रतिमें ***'सकुचौं तात कहत एक बाता।'*** के बाद ही ***'भे प्रमोद परिपूरन गाता'*** है। यह बहुत-ही खटकनेकी बात है। क्योंकि इससे प्रसङ्गका भंग होता है और उक्ति अपूर्ण रहती है। महर्षि वसिष्ठने ***'सकुचौं तात'*** कहते हुए सभी ही बात उठायी है। यह तो उद्देश्य हुआ। इसके बाद इसका विधेय होना ही चाहिये। बिना उसके प्रसंग बनता नहीं और प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। यह सब कुछ न होकर एकाएक ***'भे प्रमोद परिपूरन गाता'*** कहकर मध्यम पुरुषपर उसका प्रभाव दिखाना बिलकुल अनर्गल बात है। गोस्वामीजी-जैसे कविचूड़ामणिसे ऐसा कैसे हो सकता है। और विशेषकर ऐसी अवस्थामें जब कि अन्य सभी प्रतियोंकी उपर्युक्त छहों चरणोंसे एकवाक्यता है तब राजापुरकी प्रतिका ऐसा विकलांग और विशृङ्खल पाठ कैसे प्रामाणिक माना जा सकता है। अतः हम इस निर्णयपर पहुँचते हैं और कोई भी विचारशील विद्वान् सहज ही इस विचार-विन्दुपर पहुँचेगा कि राजापुरकी प्रति गोस्वामीजीकी हस्तलिपि नहीं है। वह किसी प्रतिसे उतारी ही गयी है। और लेखकको असवधानतासे ***'सकुचौं तात.......'*** के उत्तर और ***'भे प्रमोद*** इति' के पूर्वके चार चरण छूट गये हैं अर्थात् नकल करनेसे रह गये हैं। लेखकसे यहाँ चार चरणोंका छूट जाना और ***'सकुचउँ तात कहत एक बाता'*** के पश्चात् ***'भे प्रमोद परिपूरन गाता'*** लिख जाना बहुत सम्भव है। नित्य ही इस बातका प्रमाण यन्त्रालयों (प्रेसों) में देख लीजिये।

उनके नीचेके चरणोंके पाठसे यह बात और भी विशद रूपसे स्पष्ट हो जाती है।

'बहुत लाभ लोगन्ह लघु हानी। सम दुख सुख सब रोवहिं रानी॥
कहहिं भरत मुनि कहा सो कीन्हें। भल जग जीवन अभिमत दीन्हें॥
कानन करौं जनम भरि बासू। यहि ते अधिक न मोर सुपासू'॥

'बहुत लाभ', लघु हानी', 'सम दुख सुख', 'मुनि कहा सो कीन्हें', 'कानन करउँ जनम भरि बासू'— ये पद राजापुरवाली प्रतिके उन चरणोंके प्रतिलिपिमें छूटनेके सच्चे साक्षी हैं; वे रंचक भी संदेह नहीं रहने देते। वे यह पुकारकर कहते हैं कि मुनिराजने, जो कुछ वे कहने लगे थे, वह कहा और उसे

भरतजीने, माताओंने और अन्य लोगोंने सुना और उसके फलाफलका पूरा-पूरा अनुभव करते हुए उसका उत्तर किया। हमारे विचारोंसे ब्रह्मचारी विन्दुजी भी सहमत हैं।

इस सम्बन्धमें हम पं० रामनरेश त्रिपाठीका मत अपने कथनपर प्रकाश डालनेकी इच्छासे उद्धृत करना उचित समझते हैं।

पं० रामनरेश त्रिपाठीजी—राजापुरवाली प्रतिमें छः चौपाइयोंके बाद दोहा है और सभीकी प्रतिमें आठके बाद। तुलसीदासने अयोध्याकाण्डमें प्रायः आठ चौपाइयोंके बाद एक दोहा रखनेका नियम किया है; पर राजापुरकी प्रतिमें उपर्युक्त स्थानपर यह क्रम नहीं रहा। यह तो बाहरी परीक्षा हुई। अब भावार्थपर आइये। राजापुरकी प्रतिमें चार चरणोंकी कमीसे कथाका प्रसङ्ग बीचमें टूट जाता है। *'सकुचौं तात कहत एक बाता'* के बाद ही, बिना बात सुने ही कैसे *'भे प्रमोद परिपूरन गाता'?* इसमें चार चरणोंका छूट जाना नकल करनेवालेकी गलती जान पड़ती है। यह गलती *'बाता'* और *'गाता'* का अनुप्रास मिल जानेसे हुई जान पड़ती है।

इसी प्रकार दोहा २७८ के आगे देखिये।……दोनों (राजापुर और सभाकी) प्रतिके पाठोंको मिलाइये, तो राजापुरकी प्रतिमें सात ही चौपाइयाँ हैं और सभाकी प्रतिमें आठ। एक अन्तर तो यह है। दूसरे *'जाइ न बरनि मनोहरताई'* के आगे *'रामजनक मुनि आयसु पाई'* मेल नहीं खाता और वर्णन अपूर्ण रह जाता है। सभावाली प्रतिके दो चरणोंसे वर्णन भी पूर्ण हो जाता है और चौपाइयाँ भी आठ हो जाती हैं। यहाँ भी नकल करनेवालेको *'मनोहरताई'* और *'पाई'* के तुक मिल जानेपर धोखा हुआ है। नकल करते समय वह एकसे तुकवाले दो चरण छोड़ गया।

इन दोनों प्रमाणोंसे हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि राजापुरवाली प्रति तुलसीदासके हाथकी लिखी नहीं, बल्कि किसी और प्रतिकी नकल है, जिसका अभीतक पता नहीं चला। पहले तो तुलसीदाससे यह भूल होती ही नहीं। पर यदि यह मान लें कि भूल हो ही गयी तो बादको वे उसे सुधारे बिना न रहते।……(माधुरी, श्रावण, ३०२ तु० सं० से उद्धृत)।

कहहिं भरतु मुनि कहा सो कीन्हे। फलु जग जीवन्ह अभिमत दीन्हे॥७॥
कानन करउँ जनम भरि बासू। एहि तें अधिक न मोर सुपासू॥८॥
दो०—अंतरजामी रामु सिय तुम्ह सरबग्य सुजान।
जौं फुर कहहु* त नाथ निज कीजिअ बचनु प्रवान॥२५६॥

शब्दार्थ—सुपासू=सुख, आराम।=आनन्ददायक बात। निज=अपना।=अवश्य, ठीक, सही, वास्तविक, यथार्थ, सच्चा—(पां०)।

* यही पाठ राजापुर, काशिराज, भा० दा० इत्यादिमें है। वीरकविजीने 'कहहुँ' पाठ दिया है और लिखते हैं कि ना० प्र० सभाकी प्रतिमें 'कहहु' पाठ है। टीकाकारने इसका अर्थ किया कि—'जो आप सच कह रहे हैं……' इन वाक्योंसे ध्वनि निकल रही है कि योगिराज वसिष्ठजी झूठ भी बोला करते थे। भक्तशिरोमणि भरतजी गुरुके प्रति ऐसे कर्णकटु शब्द कैसे कह सकते हैं। इस अर्थसे वसिष्ठजी और भरतजीकी मर्यादाकी बड़ी अवहेलना की गयी है। पाठ पं० रा० गु० द्वि० की हस्तलिखित प्रतिका यही है, यही वंदन पाठकजीने दिया है। इससे वही पाठ रखना उचित समझा गया है। कोई अड़चन मिटानेके लिये पाठ बदलना मानस-पियूषको अभिप्रेत नहीं। हो सकता है कि ऐसा कहकर भरतजी मुनिको जोश दिलाना चाहते हैं, जिसमें वे अवश्य हठ करके रामजीको लौटा दें; क्योंकि वे मनमें खूब समझ चुके हैं कि 'मुनि पुनि कहब राम रुचि जानी', अपनेसे वे कदापि लौटनेको न कहेंगे। उनका अभिप्राय है कि यह बात ऐसी उत्तम है कि हमें विश्वास नहीं होता कि यथार्थ ही आपकी यही मनशा है; हमारा मन टटोलनेके लिये ही तो आप ऐसा नहीं कह रहे हैं। 'कहहु' का अर्थ 'कहउँ' भी गोस्वामीजीकी व्याकरणके अनुसार हो सकता है। ऐसा प्रयोग और भी कई स्थलोंपर हुआ है। शंकाको दूर करनेके लिये वही अर्थ यहाँ इसी पाठसे कर सकते हैं और दोहेके पूर्वार्द्धसे यह अर्थ संगत भी है। बाबा हरिहरप्रसादने इसी पाठसे यही अर्थ किया है और विनायकी टीकाकार एवं दीनजीने मुनिको ही कारण माना है। मेरी तुच्छ बुद्धिमें तो दोनोंका समावेश यहाँ करनेको ऐसा 'पद' दिया गया जिसके दोनों अर्थ हो सकें। गुरुने प्रथम दरबार (अवध) में भी तो जो कहा था वह कुछ लोगोंके मतसे परीक्षा ही थी।

अर्थ—श्रीभरतजी कहते हैं कि मुनिने जो कहा उसके करनेसे संसारभरके जीवोंको मनोवाञ्छित देनेका फल होगा* ॥ ७ ॥ (१४ वर्षकी क्या बात) मैं जन्मभर वनवास करूँगा, इससे बढ़कर मेरे लिये कोई आनन्द नहीं है ॥ ८ ॥ श्रीसीतारामजी अन्तर्यामी हैं और आप सर्वज्ञ और सुजान हैं। यदि मैं एवं आप सत्य ही ऐसा कह रहे हैं तो 'हे नाथ! अपने वचनको प्रमाण (सत्य) कीजिये (टलने न पावे, तब मैं जानूँ कि आपने मनसे यह कहा है) ॥ २५६ ॥

गौड़जी—'*कहहिं भरत मुनि*......' इति। यहाँ मुनि सम्बोधन नहीं है। यहाँ भरतजी प्रसन्न होकर सभासे कहते हैं कि मुनिजीने जो कहा है उसके करनेसे वह फल होगा जो जगत्‌के जीवोंका मनोवाञ्छित पूरा करनेसे होता है।

गौड़जी—'*कानन करउँ*' इति। फिर भरतजी मुनिकी ओर सम्बोधन करके कहते हैं कि 'भगवन्! मैं सारे जीवन वनवास करूँ। इससे बढ़कर मेरे लिये और सुभीता ही नहीं है, इस बातको आप सर्वज्ञ और सीताराम अन्तर्यामी खूब जानते हैं। जो आप सचमुच ऐसा कहते हैं तो इसे पक्का कर ही दीजिये।'

भरतजी गुरुको '*मुनि*' कहकर कदापि सम्बोधन न करेंगे क्योंकि शिष्य हैं। ऊपर दिये हुए अर्थके सिवा पूर्व अर्द्धालीका '*रानी*' शब्द अधिक उपयुक्ततासे '*कहहिं*' का कर्त्तापद हो सकता है। अन्वय यों होगा, 'रानी, कहहिं, मुनि कहा, सो भरत कीन्हे, जग जीवन्ह (कहँ तौ) अभिमत फल दीन्हे', (यद्यपि हमें समान दुःख-सुख है।)

☞ यहाँ पाठ '*जीवन्ह*' है न कि जीवन। '*जीवन्ह*' का अर्थ 'जीनेका' नहीं है। जहाँ ऐसा अर्थ होता है वहाँ 'जीवन' का ही प्रयोग होगा। '*जीवन्ह*' बहुवचन है।

नोट—'*अंतरजामी राम सिय तुम्ह सरबग्य सुजान*......' इति। '*तुम्ह सर्वज्ञ कहउँ सति भाऊ। उर अंतरजामी रघुराऊ॥*' दोहा २११ (३) देखिये। हमारे निष्कपट सत्य भावको जानते हैं, बनाकर झूठ बात आपसे कब कह सकता हूँ। अतएव आप अपना वचन सत्य कीजिये।—विशेष पाद-टिप्पणीमें देखिये।

वि० त्रि०—'*कानन करउँ जनम भरि बासू। एहि तें अधिक न मोर सुपासू॥*' यह भाव मेरा सत्य है श्रीरामजानकी अन्तर्यामी हैं और आप सर्वज्ञ हैं, आप लोगोंसे हृदयकी बात छिप नहीं सकती। जिस बातके माननेमें मैं अपना भला समझता हूँ, उसके लिये आपको सङ्कोच क्यों है। यदि आप मेरे वचनको सत्य समझते हों तो आप अपने वचनको प्रमाण कीजिये, अर्थात् रामजीको लौटाइये और मुझे वन भेजिये, सङ्कोच न कीजिये।

प० प० प्र०—'*जौं फुर कहहु त*' यह भरतजीका वाक्य और '*अरथ तजहिं बुध*.........' वसिष्ठवाक्य दोनों ही आर्त्तके वचन हैं; यह वसिष्ठजीके '*आरत कहहिं बिचारि न काऊ।*' (२५८। १)। इन वचनोंसे स्पष्ट है। कम-से-कम वसिष्ठजी तो आर्त्त हैं ही। अतः असत्य भाषणका दोष नहीं। परीक्षा लेनेमें भी असत्य दोष नहीं। सप्तर्षियोंने श्रीपार्वतीजीकी परीक्षाके लिये जो कुछ नारदजीकी निन्दा-सी की है, क्या वह सत्य है? भरतजी भी परीक्षा ही कर रहे हैं कि गुरुजी सत्य कहते हैं या परीक्षा लेते हैं।

भरत बचन सुनि देखि सनेहू। सभा सहित मुनि भये बिदेहू॥ १॥
भरत महामहिमा जलरासी। मुनि मति ठाढ़ि तीर अबलासी॥ २॥
गा चह पार जतनु हिय हेरा। पावति नाव न बोहितु बेरा॥ ३॥
औरु करिहि को भरत बड़ाई। सरसीं सीपि कि सिंधु समाई॥ ४॥

* अर्थान्तर—'भरतजी कहते हैं जो हमने कहा सो आपने किया अर्थात् मैंने कहा था कि आप रघुवंशियोंके दुःख दलते हैं सो आपने हमारे दुःखको दलकर कल्याणको साजा और वाञ्छित फल दिया।' (पाँड़ेजी) २-जैसा आपने कहा वैसा मुझसे बन पड़े तो जीनेका वाञ्छित लाभ किया'। (पं०) ३—'भरतजीने मुनिसे कहा कि आपने जो कहा है सो मैंने किया। संसारमें जीवनका फल और अभिमतका फल आपने दिया है।

शब्दार्थ—**बिदेहू**=देहसुध न रहनेका भाव। **भये बिदेहू**=देह-सुध भूल गये। **जलरासी**=जलकी राशि (भंडार); समुद्र। बोहितु (बोहित्थ)=बड़ी नाव, जहाज। **बेरा** (बेड़ा)—बड़े-बड़े लट्ठों, लकड़ियों या तख्तों आदिको बाँधकर बनाया हुआ ढाँचा जिसपर बाँसका टट्टर बिछा देते हैं और जिसपर बैठकर नदी आदि पार करते हैं। **औरु**=अधिक, दूसरी। **सरसीं** (सं०)=छोटा तालाब, तलैया।

अर्थ—श्रीभरतजीके वचन सुनकर उनका प्रेम देखकर सभासहित मुनिजी विदेह हो गये॥ १॥ श्रीभरतजीकी महान् महिमा समुद्र है, मुनिकी बुद्धि उसके तटपर अबला (स्त्री) के समान खड़ी है॥ २॥ पार जाना चाहती है, हृदयमें बहुतसे उपाय ढूँढ़े, पर न नाव ही पाती है, न जहाज और न बेड़ा ही॥ ३॥ भरतजीकी और बड़ाई और कौन करेगा? अर्थात् कोई नहीं कर सकता। क्या तलैयाकी सीपीमें समुद्र समा सकता है? (कदापि नहीं)॥ ४॥

नोट—१ मुनिको यह आशा न थी कि भरत १४ वर्षका वनवास स्वीकार करेंगे, इसीसे उन्होंने सकुचते हुए *'अरध तजहिं बुध''''''* कहा था। कैसी कठिन परीक्षा अपने समझमें ली, कैसी कठिन समस्या दी; पर अक्ल (बुद्धि) चकरा गयी, जब सुना कि १४ वर्ष क्या, मैं जन्मभर वनमें रहूँगा, मेरे स्वामीको तो सुखसे रहनेको मिलेगा; इससे बढ़कर सुख सेवकको क्या हो सकता है और उसपर भी यह हठ देखा कि यदि आप सत्य ही ऐसा कहते हैं तो अवश्य उनको लौटाइये, मैं जाता हूँ। ऐसा प्रेम देख देहाध्यास जाता रहा। हार माननी ही पड़ी। कुछ भी न बन पड़ी। महिमाकी थाह न मिली।

नोट—२ पहले केवल स्नेहमय वचन सुने थे, यथा—*'सुनि सनेहमय बचन गुर'* तब *'उर उमगा अनुराग'* उस उमड़में कह गये कि तुम जाओ वे लौटें। इसके उत्तरमें वचन सुने और अनुराग भी देखा; एक बात बढ़ी—*'भरत बचन सुनि देखि सनेहू'।* इसीसे अबकी विदेह ही हो गये। पहली बार उत्तरका साहस किया, अबकी साहस भी जाता रहा। प्रेमकी उमंगमें एक बार भूले, अब उत्तर क्या दें? भरतजीसे यह कहकर अपनी भूल मनमें मान रहे हैं कि ऐसा कहना न था। इस बातकी पुष्टता आगे होती है—*'भरत सनेहु बिचार न राखा'।*

नोट—३ *'भरत महामहिमा जलरासी।''''''* इति।—महामहिमा अर्थात् अगाध रामप्रेम समुद्र है। मुनिकी बुद्धि अबला है, मति स्त्रीलिङ्ग अतः उसे अबला कहा; पुनः *'अबला'* अर्थात् बलहीन है; इसे अपना पौरुष कुछ नहीं; पुरुष हो तो कुछ तैरनेका ही साहस करे। महिमाकी थाह लेना समुद्रके पार होना है। पार होनेके तीन उपाय—सबसे उत्तम जहाज, वह न हो तो मध्यम उपाय नाव और निकृष्ट या उनसे उतरकर तीसरा उपाय बेड़ा, इनमेंसे कोई नहीं मिलते। भाव यह कि बुद्धिका उस महामहिमामें प्रवेश करना भी अगम है। जैसे स्त्री पार जानेको समुद्रके किनारे आवे और छोटा-बड़ा कोई भी उपाय—जहाज, नाव या बेड़ा—न देखकर हैरान खड़ी रह जाय कि क्या करूँ वैसे ही मुनिकी बुद्धि भरत-महामहिमाके पार जाना चाहती है पर कुछ आश्रय न मिलनेसे दंग रह गयी। इसी तरह हनुमान्‌जी जब द्रोणाचल लिये हुए अयोध्यामें आये और भरतजीसे कहा कि यदि मैं रात्रिहीमें लङ्कामें न पहुँच गया तो लक्ष्मणजी जीवित न रहेंगे, तब भरतजीने उनसे कहा कि *'कुधर सहित चढ़ौ बिसिष बेगि पठवों'* तब *'सुनि हरि हिय गरब गूढ़ उपयो है'* कि *'मोरे भार चलिहि किमि बाना'* और वे उसपर प्रथम चढ़ ही तो गये पर तुरन्त बाणसे उतर पड़े। उस समय कविने उनकी भी ऐसी ही दशा कही है—*'तीर तें उतरि जस कह्यो चहे, गुनगननि जयो है। धनि भरत! धनि भरत! करत भयो मगन मौन रह्यो मन अनुराग रयो है। यह जलनिधि खन्यो मथ्यो लंघ्यो बाँध्यो अँचयो है। तुलसिदास रघुबीरबंधु महिमा को सिंधु तरि को कवि पार गयो है।'* (गी० ६। ११)। वहाँ भी श्रीभरतमहिमासिन्धुके पार जानेमें श्रीहनुमान्‌जीने हार मानी, भरतजीके गुणगणोंकी जीत हुई, वे कुछ कह न सके, अनुरागमें मग्न हो गये जैसे यहाँ गुरुजी हो गये। जहाज-नाव-बेड़ा क्या हैं इसपर महानुभावोंके मत ये हैं—

१ मयङ्क—संत जहाज, अनुभव नाव, वेद बेड़ा। संत, वेद और अनुभव गम्य नहीं हैं; किसीने उनकी

महिमा कही हो तो उसके आश्रय पार पाते; पर कोई महिमा जाननेवाला या कह सकनेवाला न देखा।

२ पं०, रा० प्र०—(क) मन, वचन, तन (कर्म) जहाज, नाव और बेड़ा हैं, तीनोंमेंसे कोई यहाँ काम नहीं देते, यही जहाज आदिका न मिलना है। मन विचार नहीं सकता, वाणी कह नहीं सकती, तनसे कोई यत्न नहीं बन पड़ता। वा (ख)—कर्म, ज्ञान, उपासना बेड़ा, नाव, जहाज हैं। इनके द्वारा भी भरत-महामहिमाका पता नहीं लगा सकते। (इसीका विस्तार श्रीनंगे परमहंसजीने इस प्रकार किया है—'नाव ज्ञानकाण्ड है। ज्ञानरूपी नावपर चढ़कर संसारसे पार हुआ जाता है। बेड़ा कर्मकाण्ड है। कर्म करके लोग संसारसे पार हो जाते हैं, यथा—'*त्रेता बिबिध यज्ञ नर करहीं। प्रभुहि समर्पि कर्म भव तरहीं॥*' उपासना सेतु है, यथा—'*नाथ नाम तव सेतु नर चढ़ि भवसागर तरहिं।*' ये तीनों भरतजीकी प्रेमाभक्तिरूप जलराशिमें नहीं हैं। अर्थात् जब भरतजीकी महिमा त्रिकाण्डमें होती तब तो वसिष्ठजीकी बुद्धि भरतजीकी प्रशंसा कर सकती। प्रशंसा करना ही जलराशिके पार जाना है। उपासना सेवाभक्तिको कहते हैं। प्रेमाभक्ति सेवा-भक्तिसे पृथक् और श्रेष्ठ है क्योंकि भरतजी जन्मभर वनमें रहकर श्रीरामजीकी कोई सेवा नहीं कर पाते सिवाय प्रेमके कि हमारे वन जानेसे श्रीरामजी सुखसे श्रीअवधमें राज्य करें, हमको जो कष्ट वनवासमें होंगे वे श्रीरामजीके सुख पानेसे हमको सुखरूप हैं अतः भरतकी प्रेमाभक्ति जलराशि है।' (वे '*बोहितु*' का अर्थ 'सेतु' करते हैं।')

३ पां०—यथार्थ महिमा कह सकना जहाज पाना है, कुछ दूर ही चल सकें, कुछ प्रशंसा कर सकना नाव पाना है, समुद्रमें प्रवेश ही कर सकें, किंचित्मात्र ही महामहिमाको कह सकें यह बेड़ा पाना है। पर उनकी मति उसमें प्रवेश भी करनेको आधार नहीं पाती तो और किसीकी मति कैसे प्रवेश कर सके?

४ बैजनाथजीका मत है कि 'मुनिने लौटानेको कहा है। इसका पूरा निर्वाह हो अर्थात् तीनोंका लौटाना जहाज है, पर वह नहीं मिला। तीनों भाई जावें श्रीराम-जानकीजी लौटें यह नावका मिलना है और भरत जायँ, लक्ष्मण और शत्रुघ्न रह जायँ यह बेड़ा है। पर रामरुख नहीं है इससे कोई यत्न वचनके निर्वाहका न मिला'। परंतु समझमें नहीं आता कि मुनिके वचनका निर्वाह भरत-महामहिमाके पार होनेसे क्या सम्बन्ध रखता है?

५ गौड़जी—भरतजीको यश-अपयशका खयाल नहीं है। उन्हें सबसे अधिक कष्टदायक यही बात है कि उनके लिये श्रीसीतारामजी वनवास कर रहे हैं। मुनिका प्रस्ताव अनायास ही थोड़ेसे उनके वनवासके बदले जीवनभर वनवास करके प्रायश्चित्तका अवसर देता है। भरतजीके इस विचारके महत्त्वको मुनि समझ न सके थे। एकाएकी यह भोंडा प्रस्ताव कर बैठे, भरतजीके उत्तरपर वह चकरा उठे। यदि भरतजीकी महिमा समझे होते तो ऐसा प्रस्ताव न कर बैठते। उनको अब जान पड़ा कि भरतजीकी महिमा अपार है। मेरी मति उसमें प्रवेश भी नहीं कर सकती।

वि० त्रि०—यहाँ महिमारूपी समुद्रके पार जानेका अर्थ है भरतजीकी महिमाका ठीक-ठीक वर्णन कर देना, यथा—'*औरु करै को भरत बड़ाई। सरसीं सीप कि सिंधु समाई॥*' जब गुरुजी ही महिमा (बड़ाई) नहीं कर सके तो दूसरा कौन बड़ाई कर सकता है। भरतजीके चमत्कृत गुणको देखकर गुरुजीने वर्णन करनेके लिये बहुत यत्न किया, पर कोई साधन ही हाथ न लगा, न कोई विद्या ही ऐसी मिली जिसके द्वारा पूरी महिमा प्रकट की जा सके, न वेदका मन्त्र ही कोई ऐसा है, जिससे काम चल जाय, न वागिन्द्रिय काम करती है। यहाँ विद्या ही नाव है, यथा—'*केवट बुध बिद्या बड़ि नावा।*' वेद ही बोहित हैं, यथा—'*बंदौं चारिउ बेद भव बारिधि बोहित सरिस*', और शरीर ही बेड़ा है, यथा—'*नर तन भव सागर कहँ बेरो।*'

भरत-वसिष्ठ-संवाद

मा० हं०—इस प्रसंगको भरत-रामकी आगामी सलाहका पूर्वरंग समझना चाहिये। इसमें वसिष्ठजी भरतजीके रामप्रेमको कसौटीपर चढ़ा रहे हैं। वसिष्ठ-भरत-संवादमें (यानी अयोध्याके दरबारमें) वसिष्ठजीने अपनी राजनीतिज्ञता पूर्णरूपसे दिखलायी थी। यहाँपर वे पारमार्थिक नीतिज्ञ बने हुए दिखायी देते हैं। परंतु पहलेके ही समान यहाँ भी अन्तमें उन्हें भरतजीके सामने हार मानकर झुक जाना पड़ा। परंतु देखने योग्य बात

यह है कि उन्हें अपनी हारसे जैसा आनन्द हुआ वैसा, यदि वे स्वयं जीत भी जाते तो कदापि न होता। यही नहीं, उन्हें उलटे और खेद होता है। ईश्वर गुरुत्व दे तो वसिष्ठजीके सदृश ही दे। क्योंकि देखिये, भरतजीके रामप्रेमकी कसौटी लगाना चाहनेवाले वसिष्ठजी तुरंत ही महानन्दसे बड़ी प्रेमोत्कण्ठाके साथ रामजीके आगे भरतजीके स्वयं वकील बन गये हैं। इसकी अपेक्षा गुरुत्वको असली शोभा देनेवाला जो खुला दिल और औदार्य उनकी पराकाष्ठा इससे अब बढ़के क्या हो सकेगी? हमारी प्रशंसाकी सत्यता जिन्हें देखना हो वे उसे *'कह मुनि राम सत्य तुम भाषा। भरत सनेह बिचार न राखा॥'''''''* (२५८। ६—८) की वसिष्ठशिष्टाईमें खूब कसकर देख लें।

प० प० प्र०—'एक साहित्यसमालोचक *'मुनि मति ठाढ़ि तीर अबला सी'* में 'आचारविरुद्धता' दोष देखते हैं। वे कहते हैं कि 'शिष्यके समक्ष गुरुका इतना गिरना भारतके आदर्शसे अनमिल है' (मानसमणि ११।८ पृष्ठ २०६)। पर वे ध्यानमें नहीं रखते कि यह केवल नीतिशिक्षक ग्रन्थ नहीं है, किंतु जीवको रामसम्मुख करना, उसमें वैराग्यका बीज बोना इस काण्डका हेतु (उद्देश्य) है। और **'शिष्यादिच्छेत्पराजयम्'** यह है भरतका गुरुशिष्यसम्बन्धका आदर्श। कृष्णार्जुन, भीष्म-परशुराम-युद्धादि प्रसंग भी भारतीय महाकाव्योंमें ही वर्णित हैं। वसिष्ठजीकी भावना भी नहीं हुई कि शिष्यने हमको गिराया। प्रत्युत इस पराजयसे तो गुरुमहाराज परम प्रसन्न ही हो गये कि ऐसा परम विरागी, परम प्रेमकी साक्षात् मूर्ति शिष्य हमको मिला। सद्गुरुका खुला दिल और औदार्य आदि अलौकिक गुरुगुणोंकी, भरतके आदर्श गुरुके कोमल अक्रोधी स्वभावकी पराकाष्ठा जगत्में इससे बढ़कर कहाँ देखनेको मिलेगी। अतः न तो यहाँ काव्यदोष है, न आचारविरुद्ध तथा न इसमें गुरुका गिरना बताया गया है। यहाँ तो भारतीय गुरुका परमोच्च आदर्श दिखाया गया है।

आलोचकके मनके सामने जो आदर्श है वह केवल धर्मनीति और आचारका ही देख पड़ता है। धर्मनीति आचार जप-तप आदि समस्त साधनोंका फल हरिभक्ति है—*'सब कर फल हरि भगति भवानी'*, *'सब साधन कर यह फल सुंदर। तव पदपंकज प्रीति निरंतर॥'* (यह वाक्य तो इन्हीं गुरुमहाराजका है), *'सब कर फल हरि भक्ति सुहाई।'* भगवान् शंकर, गुरु वसिष्ठ और चिरजीवी भुशुण्डिजीके इन वाक्योंमें भारतीय आदर्श सिद्धान्त है। *'उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजन जगत सब सपना॥'*, **'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'** यह है भारतीय आचार-विचार-उच्चारका आदर्श।

'मानसका रहस्य केवल पाण्डित्यसे हाथ न लगेगा। इसके लिये तो आदेश है कि *'ज्ञान नयन निरखत मन माना'*, *'जे श्रद्धा संबल रहित नहिं संतन्ह कर साथ। तिन्ह कहँ मानस अगम अति जिन्हहिं न प्रिय रघुनाथ॥'* मानसके अधिकारी कौन हैं यह ७। १२८। ६—८ में देखिये। और वसिष्ठजीके वचन जो २५८ (६—८) में है उन्हें पढ़कर विचार कीजिये कि गुरुमर्यादाको कविकुलदिवाकरने गर्दमें मिलाया कि स्वर्गतक चढ़ाया है। श्रीरामजी तो भरतजीको धर्मधुरन्धर ही जानते हैं।'

* आज सभा आरम्भ करनेका कारण *

गौड़जी—भरतजीके सोचका हाल गुरुजी खूब जानते हैं। यहाँ सबसे बड़े वही हैं, सबसे भारी जिम्मेदारी उन्हींपर है। श्रीरघुनाथजीसे एक प्रकारसे कुछ दिनों ठहरनेकी आज्ञा ले चुके हैं। परंतु ठहरनेका प्रयोजन केवल दर्शन-सुख ही तो नहीं है। अभिषेक करनेका इरादा करके तो आये हैं। वह बात कैसे छेड़ी जाय? देखते हैं कि भरतजी भी नहीं छेड़ रहे हैं। यद्यपि भरत रात-रात सोचते हैं कुछ समझमें नहीं आता, सबेरे जाकर सरकारकी सेवामें जा बैठा करते हैं। आज रातमें भरतजी उधर सोचते रहे, इधर सलाह करनेके लिये मुनिने सभाका आयोजन किया। सबेरे उनके बैठते ही बुलवा भेजा। सभा तो कोई बड़ा ही बुला सकता था। अवधमें भी गुरुजीने ही सभा बुलायी थी। यहाँ भी वही बुलाते हैं। इसी सभामें मुख्य काम शुरू किया गया।

चित्रकूटमें वसिष्ठ-भरत-गोष्ठी समाप्त हुई।

"चित्रकूट-प्रथम-दरबार"

भरतु मुनिहिं मन भीतर भाए। सहित समाज राम पहिं आए॥५॥
प्रभु प्रनामु करि दीन्ह सुआसनु। बैठे सब सुनि मुनि अनुसासनु॥६॥
बोले मुनिबरु बचन बिचारी। देस काल अवसर अनुहारी॥७॥

अर्थ—मुनिको भरतजी मनमें अच्छे लगे और वे समाजसहित श्रीरामजीके पास आये॥५॥ प्रभुने प्रणाम करके उत्तम आसन दिया। सब लोग मुनिकी आज्ञा सुनकर बैठ गये॥६॥ मुनिश्रेष्ठ देश, काल और मौकेके अनुसार विचारकर बोले॥७॥

नोट—१ गुरु-भरत-गोष्ठी *'गुरुपदकमल······'* दोहा २५३ से २५७ (५) तक है। '······*जुरे सभासद आइ'* उपक्रम है, *'सभासहित मुनि भयउ बिदेहू'* वा *'सहित समाज राम पहिं आए'* उपसंहार है।

नोट—२ *'मन भीतर भाए'* अर्थात् कसौटीपर बेदाग पाया—(वै०)। श्रीरामविषयक प्रेमाभक्ति इनमें अपार पायी जो अनिर्वचनीय और अकथनीय है। जो समाज गोष्ठीमें था वही सब यहाँ साथ आया। *'बिचारी'* क्योंकि भरतजीके प्रेमसे उमड़कर पूर्व बिना सोचे-विचारे कह डाला था इसीसे अब सावधान होकर बोले जिसमें पछताना न पड़े।

नोट—३ *'देस काल अवसर अनुहारी'* इति। भाव कि (क) वनवासमें हैं, घरसे देवताओंके हितके लिये निकल चुके हैं, निशाचरोंके देशके पास पहुँच गये। युवावस्था है, रावणके वधका समय भी आ गया है। अवसर भी देवहितके अनुकूल है, पिता-वचनके मिष वनवास हो चुका है। यह सब विचारकर=(शीला)। और उधर*'राम रजाइ सीस सबही कें',* फिर भरतको वचन दिये हैं, कई दिन यहाँ हो गये श्रीरामजीको यहाँ सबके ठहरनेसे दुःख हो रहा है, दो दिनके लिये कहा था वह भी बीत गये, या लौट चलें या लौटा दें तो बातोंपर सारा खेल है। उन्हींपर छोड़नेका अवसर है वे ही इसे शीघ्र निबटा देंगे। अथवा, (ख)—देश चित्रकूट, काल दूसरे स्नानका समय न आने पावे सब कार्य हो जाय, इससे सूक्ष्म रीतिसे, अर्थ अमित अति आखर थोरेमें, बोले। पुनः आपत्काल है उसके अनुसार—(रा० प्र०)। अथवा, (ग) देश मुनीश्वरोंका है, उसमें अपना और रघुनाथजीका अधिकार विचारा; आपदाकाल है उसमें सब लोगोंकी प्रसन्नता विचारी, अवसर अर्थात् समय कि मध्याह्न न होने पावे। (पं०)। अथवा, (घ) देश वनवासमें समय उदासीन, अवसर जैसा गोष्ठीमें करार पाया था उसके अनुकूल। (वै०)

सुनहु राम सरबग्य सुजाना। धरम नीति गुन ग्यान निधाना॥८॥
दो०—सब के उर अंतर बसहु जानहु भाउ कुभाउ।
पुरजन जननी भरत हित होइ सो कहिअ उपाउ॥२५७॥
आरत कहहिं बिचारि न काऊ। सूझ जुआरिहि आपुन दाऊ॥१॥

शब्दार्थ—अंतर=भीतर। जुआ=वह खेल जिसमें रुपये-पैसे आदिकी बाजी लगायी जाती है और हारनेवाला जीतनेवालेको वह रुपया-पैसा आदि देता है। जुआरी=जुआ खेलनेवाला। दाऊ=दाँव, खेलमें प्रत्येक खिलाड़ीके खेलनेका समय जो एक-दूसरेके पीछे क्रमसे आता है, खेलनेकी बारी; चाल=पाँसा, कौड़ी आदिका इस तरह पड़ना जिससे जीत हो, जीतका पाँसा या कौड़ी।

अर्थ—हे राम! सुनिये। आप सर्वज्ञ हैं; सुजान हैं; धर्म, नीति, गुण और ज्ञानके खजाना हैं॥८॥ आप सबके हृदयमें बसते हैं, सबके भाव और कुभावको जानते हैं। पुरवासियों, माताओं और भरतका जिसमें हित हो वह उपाय बताइये॥२५७॥ दुःखी लोग कभी विचारकर नहीं कहते हैं। जुआरीको अपना ही दाँव सूझता है॥१॥

नोट—१ सब विशेषण साभिप्राय हैं। 'सर्वज्ञ' हैं—अतः आप देवता, दैत्य, वनवासियों, भक्तों, ऋषियों

आदिकी और हम सबकी जानते हैं। *'सुजान'* अर्थात् ज्ञानवान् चतुर, पण्डित हैं और जीकी जाननेवाले हैं। यथा—*'देखि दयाल दसा सबही की। राम सुजान जानि जन जी की॥'* (३०४।४) *'जान सिरोमनि कोसलराऊ॥'* (१।२८)। जो मैं कहता हूँ उसको आप ही समझ सकते हैं। और सबकी भक्ति, गति भी पहचानते हैं—*'सुनि सनमानहिं सबहि सुबानी। भनिति भगति नति गति पहिचानी॥'* (१।२८।९) *'यह प्राकृत महिपाल सुभाऊ। जान सिरोमनि कोसलराऊ॥'* (१०)। देखिये। अतः हम लोगोंका निश्चय भी जानते हैं। *'धर्म नीति'*— पितृधर्म, मातृधर्म, पुत्रधर्म, सत्यधर्म, भ्रातृधर्म, स्वामी-सेवक-धर्म इत्यादि सभी धर्म आपमें हैं, सबके अधिष्ठान आप हैं, जिसमें सबका धर्म रहे, आपका भी धर्म रहे, वही बताइये। पुनः, राजनीति भी आपसे बढ़कर कहीं कोई जाननेवाला नहीं—*'नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥'* आप जानते हैं कि *'जेठ स्वामि सेवक लघु भाई'* और यह भी कि *'रिपु रिन रंच न राखब काऊ'।* अतः आपको ही राज्याभिषेक कराना चाहिये, यही भरतकी रुचि भी है, इसीलिये वे आये हैं और उधर देवताके शत्रुओंको भी निश्शेष करना भी आवश्यक है। दोनों बातोंका निर्वाह जिसमें हो वह कीजिये। *'गुन निधान'*— भाव कि आप शील, करुणा, दया, भक्तवत्सलता, धैर्य, वीरता आदि गुणोंके समुद्र हैं; भरतपर करुणा है और उधर देवता भी आर्त हैं उनपर भी कृपा करना है। 'ज्ञाननिधान' हैं अर्थात् आपको त्रिकालका ज्ञान है, वेद-शास्त्र आदि सबका ज्ञान है। पुनः सुख-दुःख, हर्ष-शोक इत्यादि आपको नहीं होते; मोह-ममता नहीं, समान दृष्टि सबपर है। अतएव आप हम सबको अपने कर्तव्यका शुद्ध ज्ञान दे सकते हैं, आपको किसी दूसरेकी सलाहकी आवश्यकता नहीं। जिसमें सबको प्रबोध हो, संतोष हो, सबका हित हो वह आप ही कह सकते हैं।

नोट—२ *'उर अंतर बसहु',* अतः सबके हृदयमें जो-जो भाव है वह आप जानते और देखते हैं। इन सबका भाव यही है कि आप लौट चलें, वनवासमें सबका कुभाव है। गी० २। ७। व। १७४। मेंके भरतजीके वचनसे मिलान कीजिये—*'ए सेवक संतत अनन्य अति ज्यों चातकहि एक गति घनकी। यह बिचारि गवनहु पुनीत पुर हरहु दुसह आरति परिजन की।', 'जो मेरे तजि चरन आन गति·······तौ परिहरहु दयालु दीनहित प्रभु अभिअंतर साखी।'*

वि० त्रि०—*'सबके उर·······'* इति। चक्रवर्तीजी अवधका राज्य भरतजीको और वनका राज्य श्रीरामजीको दे गये हैं। दोनों भाई अपने-अपने हिस्सोंकी अदला-बदली कर लें, भरतजी १४ वर्षके लिये वन चले जायँ और श्रीरामजी अयोध्या लौट जायँ (यह प्रस्ताव मुनिका है)। भाव यह है कि मैंने जो उपाय सोचा वह ठीक नहीं पड़ा। भरतलालको तो बहुत पसन्द है, वह स्वयं मुझे उसके कहनेमें सङ्कोच हुआ, पुरजनको भी उससे कुछ हानि तो है ही, माता लोगोंके दुःख-सुखमें भी कोई अन्तर नहीं पड़ा। गुरुजी कहते हैं कि मेरी सर्वज्ञता सापेक्ष है, तुम्हारी सर्वज्ञता निरपेक्ष है; क्योंकि सबके हृदयमें बसते हो, अतः ऐसे उपायके बतलानेमें तुम ही समर्थ हो जिसमें पुरजन, माताओं और भरत (सब) का हित हो।

पु० रा० कु०—भाव कि आपने इनका दुःख जाना तभी तो हमसे कहा था कि *'सानुज भरत सचिव सब माता। देखि मोहि पल जिमि जग जाता॥'* पर आपने इनके हितका, इनके दुःख-निवारणका कोई उपाय नहीं किया, न बताया और मैं कह चुका हूँ कि ये तो दर्शन पाकर ही विश्राम मानते हैं। अतएव आप सबके हितका उपाय कहें। पुनः यह भी जनाया कि आप चाहे जहाँ जायँ हर्ज नहीं पर हितका उपाय बताइये। वही चरणपादुका हितार्थ आगे देंगे। पुरजनमें ऋषि-मुनि-साधु-ब्राह्मण सभी हैं इसीसे प्रथम उनको कहा।—(रा० प्र०)। पुनः, राजाको प्रजा प्राण समान प्रिय है, यथा—*'जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना'* और रामजीने तो कहा है कि *'अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी'* अतएव प्रथम अति प्रिय पुरजनको कहा। पुनः, प्रजा पुत्र-सम होती है। और उसके पीछे माता और भाई। उसी क्रमसे कहा। [*'सो कहिय उपाउ'*— अर्थात् मैं आज्ञा नहीं देता, क्योंकि मैं आर्त हूँ। (वै०)]

नोट—३ *'आरत कहहिं बिचारि न काऊ·········'* इति। (क) यदि प्रभु कहें कि आप ही सब कहें

(जैसा आगे कहा ही है) उसीपर कहते हैं कि हम सब आर्त हैं, दुःखमें विचारशक्ति नहीं रह जाती, दुःखिया तो वही कहता है जिसमें उसे सुख दीखता है चाहे हो नहीं, उनकी बातका ठिकाना नहीं, प्रमाण नहीं, वे अपनी हानि-लाभ नहीं समझ सकते, यथा—*'अति आरत अति स्वारथी अति दीन दुखारी। इनको बिलग न मानिए बोलहिं न बिचारी॥' 'लोकरीति देखी सुनी ब्याकुल नरनारी। अति बरषे अनबरषेउ देहिं दैवहिं गारी॥'* (विनय० ३४) इस बातको दृष्टान्त अलङ्कारद्वारा दिखाते हैं कि आर्तको अपना ही स्वार्थ सूझता है (दूसरेके हितकी हानि हो, दूसरेका धर्म जाय या रहे, उससे सरोकार नहीं, यह भी ध्वनि है) जैसे जुआमें जब-जब पाँसा या कौड़ी फेंकी जाती है तब-तब प्रत्येक जुआरी यह बोल उठता है कि मेरा पाँसा पड़ा, मेरी कौड़ी आयी, मेरा दाँव आया। कभी मेरा दाँव छोड़ दूसरेका दाँव उसे सूझता ही नहीं। सारांश यह कि सब यही कहेंगे कि आप लौट चलें। बस, इसीमें सबका हित है और जिसमें हमें हित दीखता है उसे छोड़ और किसीका हित या धर्म हमें कदापि नहीं सूझ सकता।

वै०—जुआरीको अपना ही दाँव सूझता है पर होता ठीक वही है जो पाँसा कहे। पाँसारूप आप हैं, हम सब जुआरी हैं।

पु० रा० कु०—२ (क) *'पुरजन जननी भरत हित होइ'* से पाया गया कि 'ये तीनों हित हैं प्रभुके विषे अनहित हैं, इसीसे कहा कि *'आरत कहहिं……'।* *'आपनु दाँऊ'* अर्थात् है तो आपका ही दाँव; क्योंकि पिताने वनवास दिया है, आपका वही धर्म है, पर हम सबको अपनी ही सूझती है कि ***'केहि बिधि होइ राम अभिषेकू', 'राजा राम अवध रजधानी', 'बहुरहिं लषन सीय रघुराई।'***

(ख) जुआ ऐसा ही हुआ कि आपका दाँव पड़ा। रानी-राजामें जुआ हुआ, रानी जीती। आप जो चाहते थे वही हुआ—भरतको राज्य, आपको वनवास। पाँसा आपका पड़ा पर जुआरी अपनी ही चिल्लाता है।

सुनि मुनि बचन कहत रघुराऊ। नाथ तुम्हारेहि हाथ उपाऊ॥२॥
सब कर हित रुख राउरि राखें। आयेसु किए मुदित फुर भाषें॥३॥
प्रथम जो आयसु मो कहुँ होई। माथे मानि करउँ सिख सोई॥४॥
पुनि जेहि कहँ जस कहब गोसाईं। सो सब भाँति घटिहि सेवकाईं॥५॥

शब्दार्थ—'**माथे मानना**'=स्वीकृत करके उसके अनुसार करना। शिरोधार्य करना। '**घटिहि**= में उपस्थित होगा, करेगा, लगेगा। '**फुर भाषें**'=यह कहनेसे कि आप ठीक कहते हैं मुझे शिरोधार्य है। अर्थात् उसे मान लेनेमें। अथवा, सच बोलनेमें।

अर्थ—मुनिका वचन सुनकर श्रीरघुनाथजी कहते हैं 'हे नाथ!' उपाय आपके ही हाथ है॥ २॥ आपका रुख रखनेमें आपकी आज्ञा (पालन) करनेमें और प्रसन्न मनसे जो नीति आप बतावें उसे सत्य कहकर मान लेनेमें सबका हित है*॥३॥ पहले जो आज्ञा मुझको हो, उस शिक्षाको मैं माथेपर धारण करके करूँ॥ ४॥ फिर, हे गोसाईं। आप जिसको जैसा कहेंगे वह सब तरह सेवामें लगेगा॥ ५॥

टिप्पणी—१ पु० रा० कु०—मुनिने कहा था कि *'पुरजन जननी भरत हित होइ', 'सो कहिय', उपाउ'।* उसपर श्रीरघुनाथजीका उत्तर है—*'सब कर हित रुख राउरि राखे', 'आयसु किए', 'नाथ तुम्हारेहि हाथ उपाऊ।'* पुनः जनाया कि आपकी रुचि रखनेमें हित है, और आपका आयसु मानकर करनेमें आनन्द है।

टिप्पणी—२ मुनिने आदिमें 'सर्वज्ञ' और 'सुजान' विशेषण दिया और अन्तमें *'सबके उर अंतर बसहु'* कहा। विशेषणोंका संपुट यही है कि हृदयकी जानते हो। उसीके अनुसार प्रभुने उत्तर भी दिया कि *'रुख राउरि राखे'* अर्थात् जो आप सिद्धान्त स्थापित कर चुके हैं कि *'राखे राम रजाइ रुख हम सब कर हित*

* अर्थान्तर 'आज्ञा पालन करने और आपके आगे सत्य कहनेसे सबका हित है'; 'आपकी आज्ञा पालन करनेसे और प्रसन्न होकर सत्य कहनेसे ही सबका हित है'—(दीनजी)। 'आयसु किये मुदित'=प्रसन्न होकर आज्ञा कीजिये— (वीर)। 'मैं सच कहता हूँ प्रसन्न मनसे आज्ञा करिये'—(नं० प०)।

होइ', 'राम रजाइ सीस सबही के' उसीमें सबका हित है। और हमारी क्या रुचि है वह भी आप जानते हैं, उसे आपने कह भी दिया है—*'सत्यसंध पालक श्रुतिसेतू। रामजनम जगमंगल हेतू॥'* बस, वही आज्ञा सबको हो। इस तरह *'सर्वज्ञ सुजान' 'उर अंतर बसहु'* विशेषण चरितार्थ हुए।

टिप्पणी—३ प्रथम अपने लिये आज्ञा माँगी, यह शिष्टाचार है। पुनः, जब मैं उसपर तत्पर हो जाऊँगा तब दूसरे किञ्चित् संकोच न करेंगे। क्योंकि *'गुरोराज्ञा गरीयसी।'*

मा० म०—वसिष्ठजीने पाँच वचन कहे—१ *'तुम्ह कानन गवनहु दोउ भाई।'* और शेष चार रामजीसे, यथा—२ *'सबके उर अंतर बसहु जानहु भाउ कुभाउ।'* ३ *'पुरजन जननी भरत हित, होइ सो कहिय उपाउ॥'* ४ *'आरत कहहि बिचारि न काऊ।'* ५ *'सूझ जुआरिहि आपुन दाऊ॥'* श्रीरामचन्द्रने भी क्रमसे उत्तरमें वचन कहे हैं, यथा—२ *'नाथ तुम्हारेहि हाथ उपाऊ।'* ३ *सबकर हित रुख राउर राखे।'* ४ *प्रथम जो आयसु मोकहँ होई। माथे मानि करउँ सिख सोई॥'* ५ *'आयसु किये मुदित फुर भाषे।'*

कह मुनि राम सत्य तुम्ह भाषा। भरत सनेहु बिचारु न राखा॥६॥
तेहि तें कहउँ बहोरि बहोरी। भरत भगति बस भइ मति भोरी॥७॥
मोरे जान भरत रुचि राखी। जो कीजिअ सो सुभ सिव साखी॥८॥
दो०—भरत बिनय सादर सुनिअ करिअ बिचारु बहोरि।
करब साधुमत लोकमत नृपनय निगम निचोरि॥२५८॥

शब्दार्थ—राखना, रखना=रक्षा करना, बिगड़ने या नष्ट न होने देना, निर्वाह या पालन करना। *निचोरि*=निचोड़कर, सारांश निकालकर, सिद्धान्त निकालकर।

अर्थ—मुनि बोले, हे राम! आपने सत्य कहा, पर भरतके प्रेमने विचारको नहीं रहने दिया (नष्ट कर दिया)॥६॥ इसीसे मैं बारंबार कहता हूँ कि मेरी बुद्धि भरतप्रेमके वश हो गयी है॥७॥ मेरी समझमें तो भरतकी रुचि रखकर जो कुछ कीजियेगा वह सब शुभ ही होगा, शिवजी इसके साक्षी हैं॥८॥ भरतजीकी विनय आदरपूर्वक सुनिये, फिर उसपर विचार कीजिये और फिर साधुमत, लोकमत, राजनीति और वेदोंका सिद्धान्त निकालकर वही कीजिये॥२५८॥

नोट—१ श्रीरामजीने कहा था कि *'आयसु किए मुदित फुर भाषें'* उसके उत्तरमें मुनि कहते हैं *'सत्य तुम्ह भाषा।'*

नोट—२ *'भरत सनेह बिचारु न राखा'* = उनके प्रेममें सब विचार जाता रहा। भाव कि हमारे विचार अब भरतके प्रेमके वश उन्हींकी रुचिके अनुकूल होंगे। स्वतन्त्रता नहीं रह गयी जिससे विचार शुद्ध होते। हम दूसरा विचार कर ही नहीं सकते, केवल भरतके प्रेमका विचार रह गया है।

नोट—३ *'भरत रुचि राखी'*— भरत परम भागवत हैं, आपके सेवक हैं और आप सदा सेवककी रुचि रखते आये हैं, यथा—*'राम सदा सेवक रुचि राखी। बेद पुरान साधु सुर साखी॥'* (२१९। ७)। अतएव अवश्य कल्याण होगा।

नोट—४ *'सो सुभ सिव साखी'*— शिव कल्याणकर्त्ता हैं इसीसे उनकी साक्षी देते हैं कि अवश्य कल्याण होगा। यदि झूठ निकले तो वे हमको दण्ड देंगे, हमारा अकल्याण होगा।

नोट—५ *'भरत बिनय सादर सुनिय········'* इति। भाव कि हम यह आज्ञा नहीं देते कि भरतजीकी रुचि अवश्य रखिये, क्योंकि मैं कह चुका हूँ कि मैं कोई बात सिद्धान्तकी परतन्त्र होनेके कारण कह नहीं सकता। आप सुनें, विचार करें, और यदि वह साधुमत, लोकमत, राजनीति और वेदमतके प्रतिकूल न हो तब उसे कीजिये। [दूसरा अर्थ यह निकलता है कि इनकी विनय सादर सुननेपर क्या फिर आप विचार कर सकेंगे। यह भाव अगली चौपाईसे सिद्ध होता है। (पां०)]

वि० त्रि०—*'भरत बिनय सादर·······निचोरि।'* इति। भाव यह कि गुरु समझकर मेरे ऊपर जो निर्णयका

भार रखा है वह ठीक नहीं। मेरी बुद्धि इस समय स्वतन्त्र नहीं है, वह तो भरतकी भक्तिके परतन्त्र-सी हो गयी है। मैं तो वही कहूँगा जो भरतलाल चाहते हैं, परंतु उसे मैं कहना नहीं चाहता, मेरे कहनेसे तुम्हें विचारके लिये स्थान न रह जायगा। अतः मैं यही कहता हूँ कि भरतके विनयको आदरके साथ सुनिये। मेरा इतना ही कहना है कि भरतकी रुचिपर आघात न पहुँचे। तब स्वयं विचार करिये; और साधुमत, लोकमत, राजनीति और शास्त्रमतका सामञ्जस्य बिठाकर, जो तत्त्व निकले तदनुकूल आचरण कीजिये।

प्रार्थीके विनयपर विचार करनेके समय पाँच बातोंपर विचारकर्ताको ध्यान देना चाहिये—(१) प्रार्थीकी रुचि (२) साधुमत (३) लोकमत (४) राजनीति और (५) वेदादि शास्त्रमत।

श्रीरामचन्द्रको पिताकी आज्ञापर विचार करनेकी स्थितिपर ला देना वसिष्ठजीका ही काम था, नहीं तो रामजी पिताकी आज्ञा-पालनमें विचारको स्थान देना ही नहीं चाहते थे।

☞ पं० रा० चं० दूबे—इन शब्दोंके द्वारा एकतन्त्र शासनकी निरंकुशताका लोप हो जाता है और सुराज्यके साथ स्वराज्यकी भी झलक दिखायी देती है। (ना० प्र०)।

गौड़जी—यहाँ भरतजीके ऊपर अपनी इच्छा प्रकट करनेका भार वसिष्ठजीने रख दिया। प्रस्ताव स्वयं उन्हींका था, परंतु उसके भोंड़ेपनके कारण उनसे स्वयं नहीं कहते बनता। इधर भरतजी तो आर्त्त हैं वह किसी प्रस्तावमें हिचकिचा नहीं सकते।

प्रोफे० रामचन्द्र शुक्ल—गोस्वामीजी व्यक्तिवादके विरोधी और लोकवाद (Socialism) के समर्थक-से लगते हैं। साधुमतका अनुसरण व्यक्तिगत साधन है, लोकमत लोकशासनके लिये है। इन दोनोंका सामञ्जस्य गोस्वामीजीकी धर्म-भावनाके भीतर है। यही कारण है कि वसिष्ठजी भरतजीकी ओरसे प्रस्ताव करते हुए कहते हैं—*'भरत बिनय सादर सुनिय करिय बिचार बहोरि। करब साधुमत लोकमत नृपनय निगम निचोरि॥'*

गुर अनुरागु भरत पर देखी। राम हृदयँ आनंदु बिसेषी॥ १॥
भरतहि धरम धुरंधर जानी। निज सेवक तन मानस बानी॥ २॥
बोले गुर आयसु अनुकूला। बचन मंजु मृदु मंगल मूला॥ ३॥

अर्थ—भरतपर श्रीगुरुजीका प्रेम देखकर श्रीरामचन्द्रजीके हृदयमें विशेष आनन्द हुआ॥ १॥ भरतजीको धर्मधुरन्धर और तन, मन, वचनसे अपना सेवक जानकर वे गुरुकी आज्ञाके अनुकूल सुन्दर, कोमल और मङ्गलके मूल वचन बोले॥ २-३॥

नोट—१ *'राम हृदय आनंदु बिसेषी'*। (क)—भाव कि पिताका वचन-पालनसे आनन्द पहलेसे ही था, अब भरतपर गुरुका अनुराग देखकर विशेष हुआ। (पु० रा० कु०)। पुनः, (ख) यह तो पूर्व भी जानते थे कि *'भरत कहे महँ साधु सयाने'* अर्थात् मन, वचन, कर्मसे आज्ञामें हैं और साधु एवं सयाने हैं। अब गुरुका प्रेम भी उनपर देखा, इससे 'विशेष' आनन्द हुआ। (ग) अथवा, विशेष आनन्द इससे हुआ कि यदि वसिष्ठजी न्याय अपने हाथ रखते तो श्रीरामजीका अख्तियार न रह जाता और भरत तो अपने अधीन हैं। (पां०)। पुनः भाव कि भरतजीका गुरु-चरणोंमें अनुराग देखकर आनन्द हुआ और गुरुका ही अनुराग उनपर देख विशेष आनन्द हुआ।

नोट—२ *'भरतहि धरम धुरंधर जानी। ………'* इति। (क) श्रीभरतजीके धर्म और प्रेम आदि (प्रारम्भ) हीसे कवि कहते आये हैं, यथा—(१) *'बंदउँ प्रथम भरत के चरना। जासु नेम ब्रत जाइ न बरना॥'* नेमव्रत धर्म है। *'रामचरन-पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू॥'* यह प्रेम है। पुनः, (२) *'जौ न होत जग जनम भरत को। सकल धरम धुर धरनि धरत को॥'* यह धर्म है, *'होत न भूतल भाउ भरत को। अचर सचर चर अचर करत को॥'* यह प्रेम है। तथा यहाँ (३) *'भरतहिं धरम धुरंधर जानी। निज सेवक तन मानस बानी॥'*

(ख)—धर्म-धुरन्धर हैं, अतः हमारा धर्म न छुड़ावेंगे। *'निज सेवक'* हैं, हमसे हठ न करेंगे, हमारी आज्ञाहीमें रहेंगे। तन, वचन, मन तीनों भरतजीके चरितमें आदिसे अन्ततक प्रत्यक्ष ही हैं। तनसे

पैदल नंगे पैर चले, वचनसे *'सिर भर जाउँ उचित अस मोरा। सब तें सेवक धरम कठोरा॥'* कहा और मनसे *'मोहि अनुचर कर केतिक बाता।……जौं हठ करउँ त निपट कुकरमू। हरगिरि तें गुरु सेवक धरमू॥'* ऐसा विचार करते हैं। दोनों दरबारोंमें इनका चरितार्थ है।

नोट—३ *'बोले गुर आयसु अनुकूला।……'* इति। (क) प्रथम बार जब मुनिने कहा था कि—*'हित होइ सो कहिय उपाउ'* तब *'सुनि मुनि बचन कहत रघुराऊ'*। अर्थात् यहाँ गुरुकी अभिलाषाके अनुकूल नहीं बोले थे, इससे *'कहत रघुराऊ'* इतनामात्र कहा था। और यहाँ गुरुकी आज्ञाके अनुकूल बोल रहे हैं इससे यहाँ वचनको तीन विशेषण भी दे रहे हैं—मंजु, मृदु और मंगलमूल। आज्ञाके अनुकूल हैं, अतएव मंजु हैं; कानोंके लिये कोमल हैं, कटु नहीं; और मङ्गलदायक हैं इससे भी सुन्दर हैं।

नाथ सपथ पितु चरन दोहाई। भएउ न भुअन भरत सम भाई॥४॥
जे गुर पद अंबुज अनुरागी। ते लोकहुँ बेदहुँ बड़भागी॥५॥
राउर जापर अस अनुरागू। को कहि सकइ भरत कर भागू॥६॥
लखि लघु बंधु बुद्धि सकुचाई। करत बदन पर भरत बड़ाई॥७॥
भरत कहहिं सोइ किएँ भलाई। अस कहि राम रहे अरगाई॥८॥

शब्दार्थ—*'अरगाना'* = मौन होना, चुप साधना, सन्नाटा खींचना—*झुकी रानि अब रहु अरगानी', 'बूझे ते तोहि ज्वाब न आवै कहाँ रही अरगाई'*— (सूर)। (यह बुन्देलखण्डकी बोली है पु० रा० कु०)

अर्थ—हे नाथ! आपकी शपथ और पिताके चरणोंकी सौगन्ध (खाकर कहता हूँ) भुवनभरमें भरत-सा भाई नहीं हुआ॥४॥ जो गुरु-चरण-कमलके अनुरागी हैं वे लोकमें भी और वेदमें भी बड़े भाग्यवान् (माने गये) हैं॥५॥ (फिर) जिसपर आपका ऐसा अनुराग है उन भरतके भाग्यको कौन कह सकता है? (कोई नहीं)॥६॥ छोटा भाई जानकर भरतके मुँहपर (सम्मुख) भरतकी बड़ाई करते बुद्धि सकुचाती है॥७॥ जो कुछ भरत कहें वही करनेमें भलाई है—ऐसा कहकर श्रीरामचन्द्रजी चुप हो गये॥८॥

नोट—१ *'नाथ सपथ पितुचरन दोहाई।……'* इति। (क) गुरुके सारे शरीरकी शपथ खायी और पिताके एक अङ्ग चरणकी। इस भेदसे पितामें विशेष भक्ति दिखायी। (पु० रा० कु०)। (ख)—यह भरतके भाषणके लिये एक प्रकारकी भूमिका तैयार कर रहे हैं, इससे भरतजीको उनकी रुचि भी मालूम हो जायेगी, तब वे इसके प्रतिकूल विचार ही नहीं प्रकट करेंगे। इसीसे यहाँ कुछ उनकी प्रशंसा भी किये देते हैं। यद्यपि आगे यह भी कहते जाते हैं कि प्रशंसा करनेमें संकोच होता है। यह एक तरहसे भरतजीको अपनाना है। पुनः] (ग)-पिताकी कसमसे जनाया कि ऐसे सत्यप्रतिज्ञ पिताके वचनोंको असत्य करना उचित नहीं। गुरु-शपथसे जनाया कि उनकी आज्ञाका पालन और उनकी रुचिको रखना हमारा धर्म है, हम उसीपर चलते हैं, तुम भी चलो, अवश्य कल्याण होगा। ये शपथें आदिमें देकर इन्हें अपने पूरे वाक्यके साथ जनाया। गुरुपदप्रेमी होगा वह उनकी रुचि रखेगा।

वि० त्रि०—*'राउर जापर अस……भागू'* इति। जिसका गुरुचरणोंमें अनुराग हो वही बड़भागी है और यहाँ तो गुरुजीका ही बड़ा भारी अनुराग भरतजीपर है, कह दिया कि*'मोरे जान भरत रुचि राखी। जो कीजिय सो सुभ सिव साखी॥'* भरतलालका अनुराग गुरुचरणोंमें है, इसे देखकर रामजीको आनन्द हुआ, पर जब गुरुजीका अतीव अनुराग भरतजीपर देखा, तब रामजीको विशेष आनन्द हुआ, अतः कह रहे हैं कि *'को कहि सकै भरत कर भागू।'*

टिप्पणी—१ *'लखि लघु बंधु बुद्धि सकुचाई……'* यथा—*'भरत महामहिमा सुनु रानी। जानहिं राम न सकहिं बखानी॥'* भरतका भाग्य कोई नहीं कह सकता, आप उसे कहना चाहते हैं, पर वे छोटे हैं; छोटेके सामने उसकी बड़ाई करना अनुचित है; इससे बुद्धि सकुचाती है। पीठ पीछे इनकी बड़ाई करते रहते हैं, जैसा निषादराज, भरद्वाज मुनि और हनुमान्‌जीने स्वयं भरतजीसे कहा है।

टिप्पणी—२ '*भरत कहहिं सोइ किए भलाई।*.......' इति। (क) अर्थात् जो गुरुजीने कहा है कि '***मोरे जान भरत रुचि राखी। जो कीजिय सो सुभ सिव साखी॥***' उसीको यहाँ सफल किया।

नोट—२ वसिष्ठजीने श्रीरामजीको सर्वज्ञ, सुजान, अन्तर्यामी (***सबके उर अंतर बसहु***.........) विशेषण दिये थे। वे सब यहाँ भी चरितार्थ हुए। श्रीरामजी जानते हैं कि भरतजीने उनसे कहा है कि आप वे ही हैं '***बिधि गति जेहि छेंकी***' और गुरुजीने उनसे कहा है कि '***तुम्ह कानन गवनहु दोउ भाई। फेरिअहि लखन सीय रघुराई॥***', पर असमंजसमें हैं कि ऐसी आज्ञा कैसे दें। ऐसा नहीं करा देनेसे बात असत्य होती है और ऐसा कहें तो कैसे? देवकार्य कैसे होगा? श्रीरामजीने उनके दोनों असमंजस मिटा दिये। '***प्रथम जो आयसु मो कहुँ होई। माथें मानि करउँ सिख सोई॥***' और यहाँ '***भरत कहहिं सोइ किए भलाई***' इन वाक्योंसे गुरुके प्रभाव वचनोंकी पूरी रक्षा की। गुरुके वचनको असत्य नहीं होने दिया। अब भरतके सिरपर भार आ गया, वे चाहे वही माँग लें जो गुरुजीने करा देनेको कहा था चाहे और कुछ। आगे दोहा २५९ और २६० (४) की टिप्पणी भी देखिये।

प० प० प्र०—श्रीभरतजीकी धर्मधुरन्धरतापर श्रीरामजीका कैसा अटल अगाध विश्वास है और श्रीगुरुजीकी आज्ञापालनमें कितनी श्रद्धा और तत्परता है यह '***भरत कहहिं सोइ किये भलाई***' इस वाक्यमें झलक रहा है। यह वाक्य नीति-निपुणताका भी एक सुन्दर नमूना है। अपने मुखसे कुछ भी न कहा कि भरतेच्छानुसार मैं लौटूँगा या नहीं, किंतु यह सब उन्हींकी इच्छापर छोड़ दिया यह सेवककी रुचि-पूर्ण करनेका तथा भ्रातृप्रेमका कितना उच्च आदर्श हमारे सामने खड़ा कर दिया गया है।

दो०—तब मुनि बोले भरत सन सब सँकोचु तजि तात।
कृपासिंधु प्रिय बंधु सन कहहु हृदयँ कै बात॥ २५९॥

सुनि मुनि बचन रामरुख पाई। गुरु साहिब अनुकूल अघाई॥ १॥
लखि अपने सिर सब छरुभारू। कहि न सकहिं कछु करहिं बिचारू॥ २॥
पुलकि सरीर सभाँ भए ठाढ़े। नीरज नयन नेहजल बाढ़े॥ ३॥

शब्दार्थ—छरुभारु=प्रबन्ध या कार्यका बोझा; कार्यभार, यथा—'***देस कोस पुरजन परिवारू। गुरु पद रजहिं लाग छरभारू॥***' '***यह छरुभार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहौं।***'

अर्थ—तब मुनि भरतजीसे बोले—हे तात! सब संकोच त्यागकर, दयासागर प्यारे भाईसे हृदयकी बातको कहो॥ २५९॥ मुनिके वचन सुनकर, श्रीरामजीका रुख पाकर, गुरु और स्वामीको परिपूर्ण अनुकूल वा, गुरु और स्वामीकी अनुकूलतासे परिपूर्ण तृप्त होकर और सब छरभार अपने सिर देखकर भरतजी कुछ कह नहीं सकते, विचार कर रहे हैं॥ १-२॥ शरीरसे पुलकित होकर सभामें खड़े हो गये, कमलसमान नेत्रोंमें प्रेमजलकी बाढ़ आ गयी॥ ३॥

पु० रा० कु०—१ '*तब मुनि बोले भरत सन*.......' इति। (क) पूर्व गोष्ठीमें जब भरतजीने कहा था कि '***जौं फुर कहहु त नाथ निज कीजिय बचन प्रवान॥***' (२५६) तब मुनि निरुत्तर-से होकर मौन रह गये, कुछ न बोले थे, कविने उस समय यही कहा है कि '***भरत मुनिहि मन भीतर भाए।***' वहाँ बोलते ही तो क्या? यहाँ जब सब तरहसे अपनी बात सत्य ठहरानेका बन्दोबस्त कर लिया, बन्धान बाँध लिया, और श्रीरामजीको प्रसन्न करके उनके मुखसे यह कहला लिया कि '***भरत कहहिं सोइ किए भलाई***' तब बोले। भाव कि लो जो हमने कहा सो पूरा कर दिया, अब तुम्हारे हाथमें कर दिया जो चाहो करा लो। श्रीरामजीने वचन दे दिया, टलेंगे नहीं। कर दिखानेके पहले कोरा कथन अनुचित है यह यहाँ दिखाया, यथा—'***देवि बिनु करतूति कहिबो जानिहैं लघु लोइ। कहौंगो मुखकी समर सरि कालि कारिख धोइ॥***' (गी० ५। ५)

नोट—(क) '*तब मुनि बोले*........*बात*' इति। (क) भाव यह कि भरतलालने कहा था कि '***सोइ गोसाइँ जेहि बिधि गति छेंकी। सकै को टारि टेक जो टेकी॥***' इत्यादि, सो विधिगति रुक गयी। सरकार 'जो कुछ

कहो' सो करनेको तैयार हैं, इस समय जो कराना चाहो इनसे करा लो। अपना स्वाभाविक संकोच छोड़कर कृपासिंधु प्रिय भाईसे हृदयकी बात कह डालो। इस समय यदि कहनेमें कसर किया तो फिर उसकी पूर्ति होना कठिन है। (वि० त्रि०)। (ख) *'सब सँकोचु'*—माताकी करनीका सङ्कोच; माताके मतमें माने जानेका संकोच, यथा—*'मातु मते महुँ मानि मोहि जो कछु करहिं सो थोर।'* (२३३) बड़ेके सामने बोलनेका सङ्कोच, यथा—*'महूँ सनेह सकोच बस सनमुख कहे न बैन।'* (२६०) सेवक होकर स्वामीके सामने धृष्टताका सङ्कोच, यथा—*'मोहि अनुचर कर केतिक बाता।'''''''जौं हठ करउँ त निपट कुकरमू।'* (२५३। ५-६)। विधिकी वामताका, यथा—*'तेहि महँ कुसमय बाम बिधाता।'* (२५३। ५), सेवक-स्वामि-धर्मका सङ्कोच इत्यादि 'सब' सङ्कोच हैं जिनका त्याग करनेको कहते हैं। (ग)*'कृपासिंधु प्रिय बंधु सन कहहु'''''''* इति। सङ्कोच न करो क्योंकि कृपासिन्धु हैं, तुमपर समुद्रवत् कृपा कर रहे हैं, अपनी प्रतिज्ञा भी तुम्हारे लिये छोड़ दी है। कृपालुसे खोलकर जीकी प्रकट करना चाहिये। फिर ये तो भाई हैं और उसमें भी प्रिय भ्राता, इनसे क्या सङ्कोच?

नोट—२ *'गुरु साहिब अनुकूल अघाई।'* पहले डरते थे कि वे दोनों रुष्ट न हों—*'लोग कहउ गुरु साहिब द्रोही।'* अब दोनोंको परिपूर्ण प्रसन्न देख लिया।

नोट—३ *'कहि न सकहिं कछु करहिं बिचारू।'* गुरुने प्रतिज्ञा भङ्ग करानेका भार हमारे ही सिर छोड़ा, प्रभु प्रतिज्ञा छोड़नेको तैयार हो गये। हमारे लिये प्रतिज्ञा छोड़ी तो हमारा कर्तव्य क्या है! क्या प्रतिज्ञा भङ्ग करा दें? या कुछ और ही कर्तव्य है? शीघ्रता करना योग्य नहीं—*'सहसा करि पाछे पछिताहीं। कहहिं बेद बुध ते बुध नाहीं॥'* अतः विचार करते हैं। मिलान कीजिये—*'भरत भये ठाढे कर जोरि। ह्वै न सकत सामुहें सकुच बस समुझि मातृकृत खोरि'* ॥१॥ *'फिरिहैं किधौं फिरन कहिहैं प्रभु कलपि कुटिलता मोरि। हृदय सोच जल भरे बिलोचन देह नेह भइ भोरि* ॥२॥ *बनवासी पुरलोग महामुनि किय काठ के से कोरि। दै दै श्रवन सुनिबेको जहँ तहँ रहे प्रेम मन बोरि* ॥३॥ *तुलसी रामसुभाउ सुमिरि उर धरि धीरजहि बहोरि। बोले बचन बिनीत उचित हित करुनारसहिं निचोरि* ॥४॥' (गी० २। ७०)॥

नोट—४ खड़े होकर बोलना यह सभाका शिष्टाचार है। अपने ऊपर असीम कृपा देखी, इसीसे प्रेमाश्रुकी धारा बह चली।

मा० हं०—*'बसिष्ठशिवताई।'* अपना योगवासिष्ठ सुनाकर रामजीको अविकारी और अक्रिय ब्रह्म बनानेवाले वसिष्ठजी गोसाईंजीकी दीक्षामें आ पड़नेके कारण रामजीको कैसे सविकारी और सक्रिय पुरुषोत्तम बना रहे हैं, और अपने तत्त्वज्ञानकी शुष्कताको किस प्रकार आर्द्र कर रहे हैं, यह यहाँपर प्रत्यक्ष दिखायी देता है। हमारा यह कथन*'सुनि आचरज करइ जनि कोई'* क्योंकि *'सतसंगति महिमा नहिं गोई।'* वसिष्ठजीकी वकालतका रामजीपर जो परिणाम हुआ वह उनके इस एक ही वाक्यमें पूर्णतासे दिखायी देता है—*'भरत कहहिं सोइ किये भलाई। अस कहि राम रहे अरगाई॥'*

भरत-भाषण

कहब मोर मुनिनाथ निबाहा। एहि तें अधिक कहौं मैं काहा॥४॥
मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ। अपराधिहु पर कोह न काऊ॥५॥
मो पर कृपा सनेहु बिसेषी। खेलत खुनिस न कबहूँ देखी॥६॥
सिसुपनु तें परिहरेउँ न संगू। कबहुँ न कीन्ह मोर मन भंगू॥७॥
मैं प्रभु कृपा रीति जियँ जोही। हारेहु खेल जितावहिं मोही॥८॥

शब्दार्थ—**निबाहा**=पूरा कर दिया, पालन किया। **खुनिस** (खिन्न मनस्)=क्रोध, रिस, गुस्सा, रूखापन—*'इश्क मुश्क खाँसी खुनस खैर खून मदपान। चतुर छिपावत हैं सही आप परत हैं जान॥'* **भंग करना**=तोड़ना, उदास करना, दुखाना। **जोहना**=(सं० जुपन=सेवन), ताकना, पता लगाना, भलीभाँति देखना।

अर्थ—मेरा कहना तो मुनिराजने ही पूरा कर दिया। (अर्थात् जो कुछ मैं कह सकता वह सब उन्होंने

कह ही दिया), इससे अधिक और मैं क्या कहूँ?॥ ४॥ अपने नाथका स्वभाव मैं जानता हूँ। वे अपराधीपर भी कभी क्रोध नहीं करते॥ ५॥ मुझपर तो वे बहुत ही कृपा और प्रेम रखते हैं। मैंने खेलतेमें भी (लड़कपनमें) कभी क्रोध नहीं देखा॥ ६॥ बचपनसे मैंने साथ नहीं छोड़ा, प्रभुने कभी भी मेरा मन नहीं तोड़ा॥ ७॥ मैंने प्रभुकी कृपाकी रीति मनमें (खूब विचार) देखी है, हारनेपर भी खेलमें (वा, हारा हुआ खेल भी) मुझे जिता देते रहे हैं॥ ८॥

नोट—१ *'कहब मोर'* अर्थात् *'पुरजन जननी भरत हित होइ सो कहिय उपाउ'* इसमें सब कुछ आ गया, यही मैं कहता—(पां०)। *'मोरे जान भरत रुचि राखी। जो कीजिय सो सुभ सिव साखी॥'* इस वचनमें उस वचनकी पूरी बात आ गयी, जो उन्होंने वसिष्ठजीसे कही थी कि पूरी कीजिये। भरतजी उसे कहें; उसको स्वीकार करनेका भार श्रीरामजीपर उन्होंने डाल ही दिया है। अब भरत उसे कहें या न कहें, उसको अपनी ओरसे छोड़ दें तो गुरुके वचनकी सत्यतामें बट्टा नहीं लगेगा।

नोट—२ *'मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ………'* इति।—*'निज नाथ'* = अपने स्वामीका। अपराधीपर भी कभी क्रोध नहीं किया, भाव कि और स्वामी अपराधीपर क्रोध किया करते हैं, यथा—*'सुनु खग बहुत अवज्ञा किये। उपज क्रोध ज्ञानिहु के हिये॥' 'साहिब होत सरोष सेवकको अपराध सुनि। अपने देखे दोष सपनेहु राम न उर धरे॥* दो० ४७।' तो मुझपर भी क्यों क्रोध करने लगे। क्रोध करना तो दूर रहा, बराबर मुझपर बहुत कृपा और प्रेम रखते आये हैं।

नोट—३ *'खेलत खुनिस न कबहूँ देखी'* इति। विशेष कृपा और स्नेहके प्रमाणमें बालपनके खेलका उदाहरण देते हैं। कारण यह कि खेलमें क्रोध अवश्य आ जाता है, भाई-भाई, मित्र-मित्र खेलमें लड़ बैठते हैं, नहीं तो नाक-भौं अवश्य ही सिकोड़ते हैं, खेल खुनसकी जड़ है। जब लड़कपनमें भी क्रोध न किया तो अब तो बड़े हो गये, अब कहाँसे क्रोध आ सकता है। खेलमें जब कोई कहता कि भरतजी जीते तो वे बखसीस लुटाते यह विशेष कृपा है, यथा—*'एक कहत भइ हार राम जू की एक कहत भैया भरत जये। प्रभु बकसत गज बाजि बसन मनि जय धुनि गगन निसान हये॥* गी० १। ४३।' इसकी जोड़में पूर्व लक्ष्मणजीके वचन हैं—*'समर सरोष राममुख पेखी……।'* अर्थात् कभी सरोष नहीं देखा आज देखेंगे। (पु० रा० कु०)। मिलान कीजिये। *'सुनि सीतापति सील सुभाउ। मोद न मन तन पुलक नयन जल सो नर खेहरि खाउ॥ १॥ सिसुपन ते पितु मातु बंधु गुरु सेवक सचिव सखाउ। कहत राम बिधुवदन रिसौहैं सपनेहु लखेउ न काउ॥ २॥ खेलत संग अनुज बालक नित जोगवत अनट अपाउ। जीति हारि चुचुकारि दुलारत देत दिवावत दाउ ॥ ३॥ सिला साप संताप बिगत भइ परसत पावन पाउ। दई सुगति सो न हेरि हरष हिय चरन छुयेको पछिताउ॥ ४॥ भवधनु भंजि निदरि भूपति भृगुनाथ खाइ गये ताउ। छमि अपराध छमाइ पाँय परि इतौ न अनत समाउ॥ ५॥ कहेउ राज बन दियो नारिबस गरि गलानि गये राउ। ता कुमातु को मन जुगवत ज्यों निज तनु मर्म कुघाउ॥ ६॥ कपि सेवा बस भए कनौड़े कहेउ पवनसुत आउ। देबेको न कछू रिनियाँ हौं धनिक तू पत्र लिखाउ॥ ७॥ अपनाये सुग्रीव बिभीषन तिन्ह न तज्यो छल छाउ। भरत सभा सनमानि सराहत होत न हृदय अघाउ॥ ८॥ निज करुना करतूति भगत पर चपत चलत चरचाउ। सकृत प्रनाम प्रनत जस बरनत सुनत कहत फिर गाउ॥ ९॥ समुझि समुझि गुनग्राम रामके उर अनुराग बढ़ाउ। तुलसिदास अनयास रामपद पइहै प्रेम पसाउ'॥ १०॥* (वि० १००) इस पदमें इस शील स्वभावका सुन्दर वर्णन है।

नोट—४ *'सिसुपनु तें परिहरेउँ न संगू……'* इति (क) भाव कि बहुत साथ रहना अनादरका कारण हो जाता है। पर मेरे इतना बराबर साथ रहनेपर कभी मन भंग न किया, अर्थात् कभी अनादर न किया। (पु० रा० कु०)। (ख) जब श्रीरामजी विश्वामित्रजीके साथ गये तब तो साथमें भरतजी नहीं गये और विवाहके पश्चात् भी श्रीभरतजी अपने मामाके साथ चले गये। वर्षों साथ नहीं रहे। तब *'सिसुपनु तें परिहरेउँ न संगू'* तो असत्य है? इस शंकाका समाधान यह है कि प्रथम बार तो भरतजीने साथ नहीं छोड़ा,

श्रीरामजी ही उनको छोड़कर चले गये, क्योंकि मुनिने श्रीरामलक्ष्मणको ही माँगा था। हाँ? दूसरी बार श्रीभरतजी अवश्य माता-पिताकी आज्ञासे इन्हें छोड़कर गये, यह भूल हो गयी। तभी तो 'विधि' को मौका मिल गया और वह *'बिधि न सकेउ सहि मोर दुलारा। नीच बीचु जननी मिस पारा॥'* उस एक बार संग छोड़नेका कितना बड़ा दण्ड उनको मिला! (प० प० प्र०) ☞ इससे उपदेश दे रहे हैं कि देखो एक बारके संग छोड़नेका क्या फल दिया गया और जो आजन्म उनका संग छोड़कर माता, पिता, पुत्र, नाना, दादा, धन-सम्पत्ति आदि नश्वर विषयोंमें मग्न रहते हैं उनको कितना दुःख दण्ड भोगना पड़ेगा।

नोट—५ *'हारेहु खेल जितावहिं'* का भाव कि मैं अपनी माताकी करनीसे हारा हुआ हूँ अब भी मुझे जिताइये। (मा० म०, पां० वै०)। यहाँतक स्वामीकी रीति कही, आगे अपनी रीति कहते हैं।

मा० हं०—भरतजीका भाषण॥ १॥ किसी भी दृष्टिसे देखिये भरतजीके इस भाषणमें सभी बातें बिलकुल ही सामान्य हैं। परंतु केवल प्रेमके कारण उनमें अतिरिक्त जटिलता आयी है। इस भाषणकी यही भारी विशेषता है। २—जटिलता कहनेका कारण भरतजीके भाषणपर रामजीका उत्तर है। उसमें रामजीने भरतजीकी प्रशंसा केवल पराकाष्ठाको पहुँचा दी है। वहाँ संशय होता है कि भरतजीके भाषणमें दुर्ज्ञेय ऐसी गहनता वा असाधारणता न होते भी रामजीको भरतजीकी *'भाट जिमि बरनी'* ऐसे प्रकारकी प्रशंसा करनेका क्या प्रयोजन था? हमारे मतसे भरतजीके भाषणका गहन भाग उनकी कृतज्ञताकी भावनाका है! बिलकुल क्षुद्र कारणोंमें भी भव्य भाव देखना और हार्दिक कृतज्ञता मनाना यही उनके कृतज्ञताका सत्य स्वरूप है। ३—भरत और राम दोनोंके भी भाषण प्रत्यक्ष पढ़े बिना हमारे उक्त विचारोंकी यथार्थता ध्यानमें जँचेगी। पाठकोंको इन दोनों भाषणोंको पढ़नेकी सूचना हम खास तौरसे देते हैं, इसका कारण यह है कि ये भाषण अयोध्याकाण्डके आगामी भागकी नींव हैं। इन भाषणोंमें रामजी और भरतजीके परस्पर व्यवहारोंका अन्योन्य कृतज्ञतारूप जो मुख्य तत्त्व है वह समझ जानेपर उनके आगामी सम्पूर्ण व्यवहारोंके समझनेमें कठिनाई न पड़ेगी।

दो०—महूँ सनेह सकोच बस सनमुख कही* न बयन।
दरसन तृपित न आजु लगि पेम पिआसे नयन॥ २६०॥
बिधि न सकेउ सहि मोर दुलारा। नीच बीचु जननी मिस पारा॥ १॥
यहउ कहत मोहिं आजु न सोभा। अपनी समुझि साधु सुचि को भा॥ २॥
मातु मंदि मइँ साधु सुचाली। उर अस आनत कोटि कुचाली॥ ३॥
फरइ कि कोदव बालि सुसाली। मुकता प्रसव कि संबुक काली†॥ ४॥

शब्दार्थ—**सनमुख** (सम्मुख)=आगे, समक्ष, सामने। **मंदि**=दुष्ट, कुबुद्धि, दुरी, नीच। **सुचाली**=उत्तम आचरणवाला, सदाचारी। **बीच**=भेद, फरक, परिवर्तन, औरका, और, पार्थक्य। **बीच पारा**=परिवर्तन कर दिया, तफरका डाल दिया, औरका और कर दिया, विभेद कर दिया। कोदव (कोदो) एक प्रकारका निषिद्ध शास्त्रवर्जित अन्न है जो प्रायः सारे भारतमें होता है। इसके लिये बढ़िया खेत वा परिश्रमकी जरूरत नहीं। इसके फलियोंके भीतर गोल चावल साबूदानाके बराबर होता है। वह प्रथम वर्षामें बोया और भादोंमें काटा जाता है। **संबुक** (शंबुक)=घोंघा, सीपी। **प्रसवना**=उत्पन्न या पैदा करना। **आनना**=लाना। **बाली**=बाल, जौ, गेहूँ, जुआर आदिके पौधोंका वह ऊपरी भाग या सींका जिसमें अन्नके दाने लगते हैं।

अर्थ—मैंने भी प्रेम और संकोचवश सामने बात नहीं की। प्रेमप्यासे नेत्र आजतक दर्शनसे तृप्त (संतुष्ट) नहीं हुए॥ २६०॥ परन्तु विधाता मेरा दुलार न सह सका (उसे अच्छा न लगा, वह देख न सका, ईर्ष्यावश हो गया)। उसने नीच माताके बहानेसे बीच डाल दिया॥ १॥ यह भी कहते आज मुझे नहीं सोहता—शोभा

* कहें।

† आधुनिक प्रतियोंमें कहीं २ 'ताली' पाठ है।

देता। (क्योंकि) अपनी समझसे कौन साधु और पवित्र हुआ? (कोई नहीं हुआ)॥ २॥ 'माता नीच और मैं सदाचारी साधु, ऐसा हृदयमें लाते ही कुचाली-(दुराचारी-) की कोटि-(दर्जा, श्रेणी, वर्ग-) में ले आता है (वा, हृदयमें लाना करोड़ों कुचालके बराबर है)॥ ३॥ क्या कोदोंकी बालीमें उत्तम धान फल सकता है? क्या काली घोंघीमें मोती पैदा हो सकता है?॥ ४॥

नोट—१ *'महूँ सनेह सकोच बस सनमुख'''''''* इति।—भाव यह कि प्रेमकी उमंगमें मन करता था कि कुछ कहूँ, पूछूँ, पर संकोचवश कभी सिर उठाकर कोई बात भी न की, यथा—*'नाथ भरत कछु पूछन चहहीं। प्रश्न करत मन सकुचत अहहीं॥'* (७। ३६)। भाव कि जब आज तक ऐसा अवसर कभी न आया कि सम्मुख बात करता तब आज कैसे करूँ? गीतावलीमें भी कहा है कि *'छोटेहुँ तें छोह करि आए मैं सामुहें न हेरो। एकहि बार आजु बिधि मेरो सील सनेह निबेरो॥'* (२। ७३)। अबतक कभी सामने न बोला था पर आज वह शील-स्नेह विधिवश न रह गया, आज बोलना पड़ा। यदि कहा जाय कि फिर आये ही क्यों, तो उसपर कहते हैं कि *'दरसन''''''।'* सकुचके मारे कभी नेत्र भरकर दर्शन भी न हुए, इसीसे अबतक दर्शनसे तृप्ति न हुई, नेत्र प्यासे ही बने हैं। वा संकोचवश कभी सम्मुख बात न की, केवल दर्शन मात्र करता रहा; परंतु प्रेमके कारण नेत्र कभी दर्शनसे आजतक तृप्त न हुए, प्रेमकी प्यास उनकी बुझी नहीं है, यह जी चाहता है कि देखता रहूँ। आशय यह कि इसीलिये यहाँ दौड़ा आया कि दर्शन लाभ तो होता रहे। (प्र० सं०)। पुनः भाव कि प्रेमका व्यवहार इस भाँति चलता था कि सरकार मुझे हारा हुआ खेल जिता देते थे, मैं संकुचित हो जाता था, स्नेहसे सम्मुख बात न की, जो बिना कहे ही हारे खेलको जिता रहा है, उससे कहें तो कहें क्या? सो आज मैं बाजी हार रहा हूँ, सरकार मुझे जिता दें। प्रेम पियासे नयन आजतक दर्शनसे तृप्त नहीं हुए हैं, सो दर्शन मुझे दुर्लभ न हो पाये। (वि० त्रि०)।

नोट—२ *'बिधि न सकेउ सहि मोर दुलारा'''''''* इति। (क) आपकी मुझपर कृपा और प्रीति देखकर दैवसे न सहा गया। बिधि=विधाता, दैव, कर्म। (ख) *'नीच बीच जननी मिस पारा'* इति। यहाँ 'नीच' को यदि 'विधि' का विशेषण लें तो इस भावसे कि *'बिघन मनावहिं देव कुचाली',* पुनः *'ऊँच निवासु नीच करतूती।'* (१२। ६)।' यह नीचता है कि हमारे न होनेपर मौका पाकर माताके बहानेसे उस दुलारमें भेद डाल दिया। यदि इसे 'बीच' का विशेषण मानें इस हिचकसे कि श्रीभरतजी-सरीखे साधुके मुखसे विधाताको ऐसा कहलाना उचित नहीं, तो भाव यह होगा कि राजविरोधद्वारा, कुलरीति वेदरीतिके विरुद्ध छोटेके लिये राज्यद्वारा बीच डाला है। यह *'नीच बीच'* है, क्योंकि इससे छोटेको बड़ा पद देकर स्वामीको नीचा पद दिया और कुलको भी कलंकित किया—(वै०, पं०)। वा, *'नीच बीच'*=अन्तःकरणसे बीच—(पां०) और, यदि इसे माताका विशेषण मानें तो उनकी कुटिल कठोर करनीके सम्बन्धसे।

नोट—३ *'यहउ कहत मोहिं आजु न सोभा''''''।'* इति। अर्थात् माताको दोष देना और अपनेको निर्दोष ठहराना, हम तो पवित्र थे माताके द्वारा बीच पड़ा, यह मेरा कहना यथार्थ नहीं समझा जा सकता। अपने मुँह साधु, शुचि बन बैठनेसे थोड़े ही कोई साधु और शुचि हो सकता है? जिसे दूसरे और वह भी सज्जन लोग साधु कहें वही साधु माना जा सकता है। जो कोई कहे कि तुम्हें तो सभी साधु कहते हैं तो उसका उत्तर है कि यह नहीं हो सकता; क्योंकि *'मातु मंदि मैं साधु सुचाली।''''''* अर्थात् जिसकी माता नीच होगी उसका पुत्र उससे भी अधिक नीच होगा, माता कुचाली हो और पुत्र सदाचारी, यह कब सम्भव है? इसीको वक्रोक्तिद्वारा दृष्टान्त देकर सिद्ध करते हैं।

नोट—४ *'फरइ कि कोदव बालि सुसाली।'''''''* इति। (क) भाव कि बुरी वस्तुसे भली वस्तु हो नहीं सकती, तब हम कैसे 'सुचाली, साधु, शुचि' हो सकते हैं। कोदवँ कदन्न है, वैष्णवोंमें वर्जित माना गया है और सुशालि देवान्न है, देवपूजनमें काम आता है, पवित्र है। यहाँ तक माताके सम्बन्धसे अपनेको दूषित कहा। आगे केवल अपनेको दोष देते हैं और विधाता, माता आदिको निर्दोष करार देते हैं।

(ख) जहाँ काई या सिवार बहुत होता है वहाँ पुरानी सीप काली पड़ जाती है। यह महाकाली सीप वहीं रहती है जहाँ बगुलेको सुख होता है। तात्पर्य कि मैं कैकेयीरूपी काली सीपीसे उत्पन्न हुआ, कपटकी खानि हूँ और बकरूपी अवगुणका वासस्थान हूँ। कोई-कोई 'काली' को 'मुकता' का विशेषण मानते हैं। काला मोती वह है, जिसे कागामोती कहते हैं। (मा० म०)।

प० प० प्र०—'*फरइ कि कोदव*.......' यह दृष्टान्त शुचिताके लिये है। '*अपनी समुझि साधु सुचि को भा*' में साधुता और शुचिताका उल्लेख किया गया। इससे सूचित किया कि कैकेयी अशुचि नहीं है। कोदव अपवित्र है पर बाली पवित्र है। '*मुकता प्रसव कि संबुक काली*' में साधुताकी उत्पत्तिका सिद्धान्त कहा। मुक्ताकी उत्पत्ति मुक्ताशुक्तिसे ही होती है, वैसे ही साधु पुरुष साधु माता-पितासे ही जन्म ले सकते हैं। इससे जनाया कि कैकेयी कुटिल कठोर कुबुद्धि अभागी नहीं है किंतु साध्वी है।

श्रीनंगेपरमहंसजी—भाव कि जब माता कोदवकी बालीरूप है तब मैं भी कोदवका फलरूप हूँ क्योंकि कोदवकी बालीमें धान नहीं फलता है। पुनः, माता काली सीपीरूप है। काली सीपीमें मोती नहीं होता किन्तु जोंक उत्पन्न होती है, जिसकी चाल वक्र होती है। वैसे ही काली सीपीरूपी मातासे उत्पन्न मैं जोंक-सदृश वक्र गति चलनेवाला ही हूँगा, साधु सुचाली नहीं हो सकता। भाव यह कि श्वेत सीपी रूप तो कौसल्या माता हैं जिनसे मोती सदृश श्रीरघुनाथजी उत्पन्न हुए।

'*मातु मंदि मइँ साधु सुचाली*' में 'प्रथम बिषम' और '*फरइ कि कोदब*....... *काली*' में 'वक्रोक्ति' अलंकार है।

सपनेहुँ दोस क लेसु न काहू। मोर अभाग उदधि अवगाहू॥५॥
बिनु समझें निज अघ परिपाकू। जारिउँ जायँ जननि कहि काकू॥६॥
हृदयँ हेरि हारउँ* सब ओराँ। एकहि भाँति भलेंहि भल मोराँ॥७॥
गुर गोसाँइ साहिब सियरामू। लागत मोहि नीक परिनामू॥८॥

दो०—साधु सभा गुर प्रभु निकट कहउँ सुथल सतिभाउ।
प्रेम प्रपंचु कि झूठ फुर जानहि मुनि रघुराउ॥२६१॥

शब्दार्थ—**क लेसु**=का लेश। लेश=संसर्ग, सम्बन्ध, लगाव, यथा—'*जो कोउ कोप भरै मुख बैना। सनमुख हतै गिरा सर पैना। तुलसी तऊ लेस रिस नाहीं। सो सीतल कहिये जग माहीं॥*'—(वै० सं०)। **अवगाह**=अथाह, अगाध, यथा—'*खल अघ अगुन साधु गुनगाहा। उभय अपार उदधि अवगाहा॥*' (ब०)। **काकु**=व्यंग्य, तनज, ताना, छिपी हुई चुटीली बात, यथा—'*रामबिरह दसरथ दुखित कहत केकयी काकु। कुसमय जाय उपाय सब केवल कर्म बिपाक॥*' 'काकुः स्त्रियां विकारो यः शोकमित्यादिभिर्ध्वनेः' (अमरकोश १।६।१२)। अर्थात् शोक-भय आदिसे जो शब्दका विकार होता है, उसको 'काकु' कहते हैं। धिक्कारके वचन, टेढ़े भाववाले वचन—(रा० प०)। **परिपाक**=कर्मफल, परिणाम, फल, पूर्णता। **जारिउँ**—जारना=जलाना, कुढ़ाना, मनमें संताप उत्पन्न करना, दुःख देना। **भलेंहि**=भले ही, ऐसा हुआ करे, इसमें हानि नहीं है, अच्छा ही है—इस प्रयोगसे कुछ उपेक्षा या संतोषका भाव प्रकट होता है। पूर्ण रूपसे। **भल**=भला, भलाई, कल्याण। गोसाईं=इन्द्रियोंके स्वामी प्रेरक, संचालक, अर्थकर्मके प्रेरक—(दीनजी)। **भाऊ**=भावना, स्वभाव, वृत्ति, विचार। **सतिभाऊ**=सद्भावसे, सत्य।

अर्थ—स्वप्नमें भी दोषका लेश (मात्र) किसीको नहीं† है। मेरा अभाग्य-समुद्र अथाह है॥५॥ अपने पापोंका फल बिना समझे हुए मैंने व्यर्थ माताको व्यङ्ग्य वचन कहकर जलाया॥६॥ अपने हृदयमें सब

* पाठान्तर—'हारेउँ—रा० प्र०, गौ० प्रे०। हारउँ—ला० सीताराम।

† प्रसङ्गसे यही अर्थ उत्तम प्रतीत होता है। क-का, जैसे धंधक, देवक आदि। और तरह ये अर्थ होते

ओर खोजकर मैं सब तरफसे हार गया। एक ही प्रकार भले ही मेरा भली प्रकार भला होना देख पड़ता है॥ ७॥ गुरुजी गोसाँई (समर्थ, श्रेष्ठ, ईश्वर) हैं और श्रीसीता-रामजी स्वामी हैं* इससे मुझे परिणाम (अन्त, फल, अंजाम) अच्छा लगता है॥ ८॥ साधुओंके समाजमें, गुरुदेव और प्रभुके समीप, उत्तम श्रेष्ठ भूमि चित्रकूट श्रीरामतीर्थमें सद्भावसे† कहता हूँ। यह प्रेम है या कपट-छल, झूठ है या सत्य, इसे मुनि श्रीवसिष्ठजी और रघुराज श्रीरामजी जानते हैं॥ २६१॥

नोट—१ *'मोर अभाग उदधि अवगाहू',* यथा—*'मैं धिग धिग अघ उदधि अभागी। सब उतपात भयउ जेहि लागी॥ कुलकलंक करि सृजेउ बिधाता। साँइदोह मोहि कीन्ह कुमाता॥'* २०१। ५

नोट—२ *'बिनु समुझें निज अघ परिपाकू......'* इति। भाव कि माताको बुरा-भला कहा था तब यह न समझा कि यह सब मेरे पापकर्मोंका फल है, उनके भोगका यही समय है, अब समझा तब पछताया कि व्यर्थ ही उनको ऐसा कहा। १६१ (६) *'पापिनि सबहि भाँति कुल नासा'* से *'रामबिरोधी हृदय......।'* १६२।' तक 'काकु' वचन है। वाल्मीकिजी लिखते हैं—'**इत्येवमुक्त्वा भरतो महात्मा प्रियेतरैर्वाक्यगणैस्तुदस्ताम्**।' (२। ७३। २८) कि महात्मा भरतने अप्रिय वचनोंसे कैकेयीको दुःखित करते हुए ये बातें कहीं। पुनः, यथा—वाल्मीकीये—'**यत्प्रधानासि तत्पापं मयि पित्रा विना कृते। भ्रातृभ्यां च परित्यक्ते सर्वलोकस्य चाप्रिये**॥' (२। ७४। ११) अर्थात् जो पाप तुममें अधिक है उसका फल, 'पितासे रहित' भाइयोंसे त्यक्त और सबके अप्रिय', मुझे भोगना पड़ता है।

नोट—३ *'हृदयँ हेरि हारउँ सब ओराँ।.......'* पहले जो कहा कि *'मोर अभाग उदधि अवगाहू'* उसी अभाग्यरूपी दुःख-समुद्रसे पार होनेके लिये चारों उपाय ढूँढ़ डाला, कोई न मिला, बस एक उपाय मनमें निश्चित हुआ। वह यह है कि गुरु गोसाँई हैं और श्रीसीतारामजी स्वामी हैं, इससे परिणाम अच्छा ही होगा। (पं०) गोसाईं हैं, ईश्वर ही हैं, विधाताके लिखे अङ्कोंको मिटानेवाले हैं।

नोट—४ *'साधु सभा गुर प्रभु.......'* इति। भाव कि इन चारोंके समीप असत्य बोलना महापाप है; उसपर भी मुनि और रघुनाथजी सर्वज्ञ और अन्तर्यामी हैं, और चित्रकूट थल है, जहाँ विधि-हरिहरका प्रपञ्च तो प्रकट ही हो गया तब यहाँ और कौन प्रपञ्च चला सकता है।

भूपति मरन पेम पनु राखी। जननी कुमति जगतु सबु साखी॥ १॥
देखि न जाहिं बिकल महतारीं। जरहिं दुसह जर पुर नर नारीं॥ २॥
महीं सकल अनरथ कर मूला। सो सुनि समुझि सहिउँ सब सूला॥ ३॥
सुनि बन गवनु कीन्ह रघुनाथा। करि मुनिबेष लषन सिय साथा॥ ४॥
बिनु पानहिन्ह पयादेहि पाएँ। संकरु साखि रहेउँ एहि घाएँ॥ ५॥

शब्दार्थ—राखी=रखनेसे, रक्षाके लिये, निर्वाह वा निबाहनेके लिये। जर=ज्वर, बुखार। महीं=मैं ही। **दुसह जर**=कठिन ज्वर, जैसे विषमज्वर, कालज्वर, जीर्णज्वर आदि।=कठिन संताप। रहेउँ=जीता रह गया।

हैं—'स्वप्नमें भी दूसरेके दोषसे किसीको क्लेश नहीं होता'—(वीर)। वा, 'इस क्लेशमें स्वप्नमें भी किसीका दोष नहीं'—(रा० प्र०, पां०, वै०)। वा, 'स्वप्नमें भी न किसीका दोष है और न किसीको क्लेश।' २ कोई कहते हैं कि याज्ञवल्क्यरामायणमें कहा है—'न मन्थराया न च मातुरस्य दोषो न राज्ञो न च राघवस्य। मत्पापमेवात्र निदानभूतं वनप्रवेशे रघुनन्दनस्य॥' हमें यह रामायण देखनेको नहीं मिली।

* दूसरा अर्थ—'गुरु, गोसाईं, साहिब सब कुछ सीताराम हैं'—(रा० प्र०)। परंतु आगे 'जानहिं मुनि रघुराउ' पद दिया है और पूर्व भी भरतजी गुरुजीसे कह चुके हैं—'सोइ गोसाँइ जेहि बिधि गति छेंकी' इससे ऊपर दिया हुआ ही अर्थ सङ्गत प्रतीत होता है।

† सतिभाउ, यथा—'महाराज रघुनाथ प्रभाऊ। करउँ सकल कारज सतिभाऊ', 'बिहँसी घन सुनिकै सतभाऊ। हौं रामा तू रावन राऊ', 'कहउँ सखी आपन सतभाऊ। हौं जो कहत जस रावन राऊ'—(जायसी)।

सब शूल—शूल ८ प्रकारके हैं—वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, आमज, वातश्लैष्मिक पित्तश्लैष्मिक और वातपैत्तिक। वायुके प्रकोपसे पेट या उसके आसपास बड़ी वेदना या पीड़ा होती है उसे शूल कहते हैं। मुहावरेमें 'पीड़ा' अर्थ है।

अर्थ—'प्रेमपन' के निर्वाहके लिये राजाका मरण और माताकी कुमति-(दोनों-) का सारा संसार साक्षी है॥ १॥ समस्त माताएँ व्याकुल हैं, देखी नहीं जातीं। अवधके (सभी) स्त्री-पुरुष कठिन श्रीरामवियोग ज्वरसे जल रहे हैं॥ २॥ इन सारे अनर्थोंकी जड़ मैं ही हूँ। यह सुनकर और समझकर मैंने सब दुःख सहे॥ ३॥ श्रीरघुनाथजी मुनिवेष बनाकर लक्ष्मण और सीताजीको साथ लेकर बिना पदत्राणके पैदल ही, वनको गये, शङ्करजी साक्षी हैं कि यह सुनकर ऐसे घावसे भी मैं जीता रह गया॥ ४-५॥

नोट—'*भूपति मरन पेम पनु राखी।*.......' इति। (क)—'प्रेमपण' के दोनों अर्थ हो सकते हैं। प्रेमका पण, यथा—'***सो तनु राखि करब मैं काहा। जेहि न प्रेमपनु मोर निबाहा॥***' (१५५। ६) वही शब्द यहाँ आये हैं। पुनश्च यथा—'***ऐसे सुतके बिरह अवधि लौं जौं राखौं यह प्रान। तौ मिटि जाइ प्रीति की परमिति अजस सुनौं निज कान॥***' (गी० २। ५१) '***हृदय समुझि सनेह सादर प्रेम पावन मीन। करी तुलसीदास दसरथ प्रीति परमिति पीन॥***' (गी० २। ५८) अथवा, प्रेम (पण) और सत्यपण। सत्यसे रामवियोग और रामप्रेमसे वियोगमें मरण। (ख)—'***सब साखी***' अर्थात् मैं बनाकर अपनी ओरसे नहीं कहता, त्रिलोकी जानता है।

पु० रा० कु०—१ '***महीं सकल अनरथ कर मूला***......' इति। 'सकल' जो यहाँ गिनाये—(१) '***भूपतिमरण।***' (२) '***जननीकुमति।***' (३) '***बिकल महतारी***' और (४) '***जरहिं दुसह जर पुर नर नारी।***' इन सब अनर्थोंका कारण मैं हूँ। रामवियोगका कारण मैं हूँ, उसीसे पिताकी मृत्यु हुई। मैं यहाँ न था इससे मातामें कुमति उपजी। वह कुमति मेरे राज्यसुखके लिये थी, अतः उसका भी मूल मैं ही हूँ। शेष दो भी इन्हींसे हुए।

नोट—२ '***सो सुनि समुझि सहिउँ सब सूला।***' मातासे सुना तथा औरोंसे भी सुना, मनमें समझा, यथा—'***हेतु अपनपउ जानि जिय थकित रहे धरि मौन।***' (१६०) जब मनमें अपनेको ही सबका मूल समझा तब कहता किससे? दोष देता किसे? यथा—'***दुखित कतहुँ परितोष न लहहीं। एक एक सन मरम न कहहीं॥***' तथा मैंने सब शूल सहे। अर्थात् मनमें बड़ी व्यथा है पर किसीसे कह नहीं सकता, अपनी करनीका फल अपने ही भोगनेसे कटेगा। यहाँ चार अनर्थ हुए उन्हींसे शूल उत्पन्न हुए।

नोट—३ '***संकरु साखि रहेउँ एहि घाएँ***......' इति। अर्थात् शूल तो चारहीसे हो गये थे, उसपर भी जब यह मालूम हुआ कि इस वेषसे गये तब जो घाव हुआ, जैसी असह्य चोट हृदयको लगी, उसके शङ्करजी साक्षी हैं, प्राणघातक पीड़ा हुई; पर प्राण बने ही रहे क्योंकि अभी भोग शेष हैं। शङ्करजीकी साक्षी दी; क्योंकि कल्याणके लिये इन्हींको मनाया करते थे। यदि झूठ हो तो अकल्याण करेंगे। पुनः, इनके तीन नेत्र हैं—सूर्य, चन्द्र और अग्नि। सूर्य लोकोंके प्रकाशक और यमपुरीके साक्षी हैं, अग्नि भी साक्षीका काम करते हैं; क्योंकि सबके भीतर हैं और अग्निनेत्रसे कामदेवतकको भस्म कर दिया था, दण्ड देनेमें ऐसे समर्थ हैं।

बहुरि निहारि निषाद सनेहू। कुलिस कठिन उर भएउ न बेहू॥ ६॥
अब सबु आँखिन्ह देखेउँ आई। जिअत जीव जड़ सबइ सहाई॥ ७॥
जिन्हहिं निरखि मग साँपिनि बीछीं। तजहिं बिषम बिषु तामस* तीछीं॥ ८॥

दो०—तेइ रघुनंदनु लषनु सिय अनहित लागे जाहि।
तासु तनय तजि दुसह दुख दैउ सहावइ काहि॥ २६२॥

* राजापुर, रा० गु० द्वि० आदिमें यही है। 'तापसतीछी, ताप सतीछी'—(रा० प०, भा० द०)

शब्दार्थ—**बेहू**=(सं० वेध) छेद, सूराख, छिद्र। **तामस**=तमोगुणयुक्त=क्रोध, गुस्सा=तमोगुण प्रकृतिवाले। **तीछी** (तिक्ष)=तीक्ष्ण, भीषण, तेज, प्रचण्ड, उग्र। अनहित शत्रु, बुराई चाहनेवाला।

अर्थ—फिर निषादका प्रेम देखनेपर भी वज्रसे भी कठोर हृदयमें छेद न हुआ। अर्थात् वह फट न गया॥ ६॥ अब यहाँ आकर सब आँखोंसे देखा। यह जड़ जीव जीते-जी सभी सहावेगा॥ ७॥ जिनको देखकर रास्तेकी तीक्ष्ण तामसी साँपिनें और बीछियाँ अपना कठिन विष एवं तीक्ष्ण तामसी प्रकृति त्याग देते हैं॥ ८॥ वे ही रघुनन्दन, लक्ष्मण, सीता जिसे शत्रु जान पड़े, उसके पुत्रको छोड़, दैव दुःसह दुःख और किसे सहावेगा?। २६२।

नोट—१ '*बहुरि निहारि निषाद सनेहू।*......' इति। (क) एक तो वह हिंसा करनेवाला, अधम जाति इत्यादि, उसमें इतना प्रेम; और हम भाई होकर भी हमारी ऐसी दशा; दूसरे उसका ऐसा प्रेम कि आपके लिये प्राण देनेको तैयार हो गया था। ऐसा जान पड़ता है कि जब निषादराजने सबको इशारा दिया कि भरत शत्रु नहीं हैं, मित्र हैं, तभी उन्होंने जान लिया था कि ये सब लड़नेकी तैयारी कर चुके थे। उसी प्रेमका यहाँ इशारा है। (पां०, वै०, रा० प्र०) ऐसे जड़ जीवोंका श्रीरामपर यह प्रेम और उनसे हमारा माताद्वारा विरोध! यह विचार कर व्यथा बढ़ गयी।

(ख) उत्तरोत्तर अधिक व्यथा दिखाते जा रहे हैं। पहले अनर्थको सुन-समझकर '***सब शूल सहे***' फिर जब माता कौसल्याजीसे मुनिवेष आदि सुना—'*पितु आयसु भूषन बसन तात तजे रघुबीर*.........' (१६५)—तब '*रहेउँ एहि घाएँ।*' फिर निषादका प्रेम देखकर और अधिक वेदना हुई—'***कुलिस कठोर उर भयउ न बेहू।***'

नोट—२ '***जिअत जीव जड़ सबइ सहाई।***' भाव कि (क) जब वनवास सुना तभी मृत्यु होनी चाहिये थी। तब न हुई, अब आँखों देख लिया तो भी प्राण न निकले, शरीर बना ही है, सब सहकर भी जीता हूँ। (ख) जीते-जी ही यह जीव सब सहा रहा है। अर्थात् अबतक सुनते थे कि मरनेपर यमयातना आदि सहनी पड़ती हैं, पर हमें जीते ही सब क्लेश सहने पड़े। (ग) अब भी न मरा इससे जान पड़ता है कि अभी और सहना पड़ेगा। (घ)—इसीसे जीवको जड़ कहा, चेतन होता तो न सह सकता, शरीरसे निकल जाता। (पं०, पां०, वै०, रा० प्र०) (ङ) हम इस लायक न थे कि यह क्लेश सह लेते और न आगे सह सकेंगे—(पु० रा० कु०)

वि० त्रि०—गुरुजीने कहा था कि '*पुरजन जननी भरत हित होइ सो कहिय उपाउ।*' (२५७) उसी बातको भरतजी कहते हैं। '***देखि न जाहिं बिकल महतारीं। जरहिं दुसह जर पुर नर नारीं॥ महीं सकल अनरथ कर मूला। सो सुनि समुझि सहिउँ सब सूला॥***' भरतजी कहते हैं कि यहाँतक तो मैं सह गया, पर '***सुनि बन गवन कीन्ह रघुनाथा। करि मुनि बेष लखन सिय साथा॥ बिनु पानहिन्ह पयादेहि पाएँ।***'— यह दुःख असह्य हुआ। आज सब आँखों देख रहा हूँ। यह दुःख सर्वथा दुःसह है। मैं मर क्यों नहीं जाता, मैं जीता क्यों हूँ?

नोट—३ '*जिन्हहि निरखि मग साँपिनि बीछीं।* ....' इति। यहाँ कैकेयीके स्वभावके लिये उपमा दे रहे हैं इसीसे सर्पिणी और बीछी दोनों स्त्रीलिङ्गके ही उदाहरण दिये हैं। पुनः, सर्प और बिच्छूसे नागिन और बीछी अधिक विषैली और तामसी होती हैं इससे भी। ऐसे जीव भी अपना स्वभाव छोड़ देते हैं तब कैकेयी तो सदा साथ रही, मनुष्य है, उसको अपनी कुटिल बुद्धि अवश्य त्याग देनी थी, पर वह इनसे भी बुरी निकली। '***तामस तीछी***' अर्थात् दौड़कर खेदकर काटने, डंक मारनेवाली। वे भी रामको आते देख प्रेम करने लगते हैं और यह प्रेम करती थी सो उनको शत्रु समझने लगी। (पु० रा० कु०)

नोट—४ '***सहावइ काहि***' अर्थात् ऐसा दुःख सहनेका पात्र कहीं संसारमें और कोई दैवको मिला ही नहीं; और हो भी नहीं सकती क्योंकि ऐसी माता किसीकी भी न होगी जिसे राम अप्रिय लगते हों। मनुष्योंमें कौन कहे जड़ जीवोंमें ऐसा कोई नहीं। '***सहावइ***' से जनाया कि सहा नहीं जाता, जबरदस्ती सहाया जा रहा है।

वि० त्रि०—बेटेके दुःखसे माताको जो दुःख होता है, वैसा अपने दुःखसे नहीं होता। अतः माताको घोर दण्ड देनेका उपाय बेटेको दुःख देना है। भरतजी कहते हैं कि मेरी माता साँपिन और बीछीसे भी अधिक तामस तीछी हैं, उन्होंने (साँपिन बीछीने) तो रघुनन्दन, लक्ष्मण और जानकीजीको देखकर, उन्हें हित समझा, और मेरी माताने अनहित समझा। अतः उसे दण्ड देनेके लिये विधाता मुझे इतना दुःख सहा रहे हैं, यही कारण मेरे प्राणके न जानेका है। नहीं तो वह ऐसे दुःखमें कभी न रहता।

नोट—५ इस प्रकरणभरमें भरतजीकी ग्लानि दिखायी है कि हमको जीवित न रहना था। गुरुने आज्ञा दी थी कि *'कृपासिंधु प्रिय बंधु सन कहहु हृदय कै बात।'* (२५९) भरतजीने यहाँतक अपने हृदयकी बात कही। *'कहब मोर मुनिनाथ निबाहा। एहि तें अधिक कहौं मैं काहा॥'* (२६०। ४) से २६२ तक, अपने हृदयका दुःख निवेदन करके अपने क्लेशकी शान्ति चाहते हैं।

सुनि अति बिकल भरत बर बानी। आरति प्रीति बिनय नय सानी॥ १॥
सोक मगन सब सभा खभारू। मनहुँ कमलबन परेउ तुसारू॥ २॥
कहि अनेक बिधि कथा पुरानी। भरत प्रबोधु कीन्ह मुनि ग्यानी॥ ३॥
बोले उचित बचन रघुनंदू। दिनकर कुल कैरव बन चंदू॥ ४॥

शब्दार्थ—खभार=चिन्ता, व्याकुलता, घबड़ाहट।

अर्थ—दुःख, प्रेम, विनय (विशेष नम्रता, दीनता, विनती) और नीतिमें सानी हुई (अर्थात् इनसे परिपूर्ण) और अत्यन्त व्याकुल-विह्वल श्रीभरतजीकी श्रेष्ठ वाणी सुनकर सब लोग शोकमें मग्न हो गये, सभामें खलबली पड़ गयी, मानो कमलके वनपर पाला पड़ा॥ १-२॥ तब ज्ञानी मुनि वसिष्ठजीने अनेक प्रकारकी पौराणिक एवं पुरानी कथाएँ कहकर भरतको समझाया॥ ३॥ तदनंतर सूर्यकुलरूपी कुईंके वनके विकसित करनेवाले चन्द्र रघुनन्दन श्रीरामजी उचित वचन बोले॥ ४॥

नोट—१ *'आरति प्रीति बिनय नय सानी।'* वाणीमें चारों मिश्रित हैं। पंजाबीजी, बैजनाथजी आदिने पृथक् भी किये हैं।

टीकाकार	आरति	प्रीति	विनय	नय
पं० रा० कु०	*'देखि न जाहिं बिकल महतारीं* *जरहि दुसह जर पुर नर नारीं*	*भूपति मरन पेम पनु राखी* *बहुरि निहारि निषाद सनेहू......परिनामू।'*	*गुरगोसाइँ साहिब* यह *मुकुता प्रसव......'*	*'फरइ कि कोदव......* हितके लिये विनय है
पाँड़ेजी	*महीं सकल अनरथकर मूला।* *सो सुनि समुझि सहिउँ सब सूला*	*महूँ सनेह सकोचबस......*	,, ,	सम्पूर्ण भाषण नीति है।
पंजाबीजी	*'बिधि न सकेउ सहि'* से *'मोर* *अभाग उदधि अवगाहू'* तक	*'बिनु समुझे निज अघ'* से *'जानहिं मुनि रघुराउ'* तक	*'भूपति मरन'* से *'संकर साखि* ....' तक	*बहुरि निहारि निषाद'* से *'दैउ सहावइ* *काहि'* तक
अज्ञात (रा० प्र० से)	*'बिधि न सकेउ सहि मोर दुलारा'* से *'जारिउँ जाइ जननि कहि......'* तक।	*हृदय हेरि हारेउँ'* से *'जानहिं मुनि रघुराउ'* तक	*'भूपति मरन पेम.......'* से *'संकर साखि.......'* तक	सम्पूर्ण भाषण
वै०	*'बिधि न सकेउ सहि मोर दुलारा',* *'बिनु समुझे निज अघ परिपाकू'*	*महूँ सनेह सकोच बस*	*गुरगुसाइँ साहिब* *सिय रामू*	*दैव सहावइ काहि*

नोट—२ *'मनहुँ कमलबन परेउ तुसारू।'* (क) पाला पड़नेसे कमलका सिर नीचे लटक पड़ता है; वही दशा सब सभाकी हुई। (पाँ०) सभामें बहुत लोग हैं अतः वनकी उपमा दी। पाला पड़नेसे कमल जड़से फुनगीतक झुलस जाता है। सब कमलवत् प्रफुल्लित थे। (यह समझकर कि अब तो भरतजी लौटनेको कहेंगे, दूसरी बात ही न होगी) सो शोकमें डूब गये। पुनः, शोकमें मग्न होनेका कारण कि कदाचित्

ऐसी व्याकुलतामें भरतजी प्राण न छोड़ दें। (पु० रा० कु०)

नोट—३ '*कहि अनेक बिधि कथा पुरानी·······ग्यानी*' इति। (क) प्राचीन कथाएँ उन लोगोंकी कहीं, जिन्होंने विपत्तिमें धैर्य धारण किया तो उनकी विपत्ति मिट गयी। जैसे नल, हरिश्चन्द्र आदिकी। प्रबोध किया अतएव 'ज्ञानी' विशेषण दिया, अर्थात् आत्मवित् हैं, हर्ष-शोकरहित हैं; इसीसे पूर्ण बोध कर दिया। अथवा, (ख) ज्ञानीका भाव यह कि ज्ञानकी कथाएँ कहकर प्रबोध किया। ज्ञानसे शोकका नाश होता है, यथा—'*होत बिरह बारिधि मगन चढ़े बिबेक जहाज।*' (२२०) अतः 'ज्ञानी' विशेषण दिया। (पु० रा० कु०)

☞ स्मरण रहे कि समझानेमें प्रायः ज्ञानी विशेषण दिया गया है, यथा—'*एहि बिधि बिलपत रैनि बिहानी॥ आए सकल महामुनि ज्ञानी। तब बसिष्ठ मुनि समय सम कहि अनेक इतिहास। सोक निवारेउ सबहि कर निज बिज्ञान प्रकास॥*' (१५६), '*बैठन सबहिं कहेउ गुरु ज्ञानी। कहि जग गति मायिक मुनिनाथा॥ कहे कछुक परमारथ गाथा।·······मुनिबर बहुरि राम समुझाए।*' (२४६) इत्यादि।

वि० त्रि०—'*कहि अनेक बिधि······ग्यानी*' इति। सब सभा शोकमग्न हो गयी, भरतको कौन समझावे। ज्ञानी मुनि वसिष्ठजी तब समझाने लगे—'*पूत प्रहलाद को न लाग्यौ पाप लेश पितु, पार करिबे को तासु भक्ति भई नैया सी। त्योंहि पृथुराज को न लाग्यौ वेनु कृत पाप, प्रबल प्रताप पहुमी हू भई गैया सी। भगति बखानौं भूरि भायप बखानौं, तेरी बिरति बखानौं एक बात नहीं मैया सी। दुखित न होउ देखि दोष जननी को तुम, कीरति तुम्हारी जग जागत जुन्हैया सी॥*' (१)'*बिना पुण्य सुख होत नहिं, दुख न होत बिनु पाप। काहूहि दोष न दीजिये, समुझि मनहि मन आप॥ राम सच्चिदानन्दघन, तहाँ नहीं दुख लेस। ताते बहुत न कीजिए, हिय महँ व्यर्थ कलेस॥*'

नोट—४ यहाँ शोकमग्न तो सब हैं और समझाया केवल भरतजीको? क्योंकि सबसे अधिक व्याकुल ये ही हैं, इनकी दशा अकथनीय है। इस कारण श्रोताओंमें प्रधान इन्हींको रखा, इन्हींको सम्बोधन करके प्रबोध करना प्रारम्भ किया और सुनते तो सभी थे; प्रबोध भी सबको हुआ—(पं०)।

नोट—५ '*बोले उचित बचन रघुनंदू······*' इति। (क) भरतजीकी ग्लानि समझकर उसके मिटानेके लिये उसके योग्य वचन कहकर समझाया। सूर्यकुलपर कुईंके वनका आरोप किया, कुईंको चन्द्रमा विकसित कर देता है। अतः श्रीरामजीको चन्द्रमा कहा। आदिमें '*दिनकर कुल कैरवबन चंदू*' विशेषण देकर जना दिया कि यह भाषण इनका रघुकुलमात्रको प्रफुल्लित कर देगा और हुआ भी ऐसा। यहाँ उपक्रममें '*बोले उचित बचन रघुनंदू।·······*' और उपसंहारमें '*सत्यसंध रघुबर बचन सुनि भा सुखी समाज।*' (२६४) समाजभर शोकमें मग्न है, सभी सुखी हो गये। (ख) यहाँ दिनकरकुलसे और रघुनाथजीसे पृथकृता दिखायी। भाव यह कि रघुनाथजी वनमें रहेंगे और दिनकरकुलवाले अवधमें रहेंगे। चौपाईमें भी पृथक्ता दिखायी—'रघुनन्दू' एक चरणमें और दिनकरकुल दूसरेमें रखा। (पु० रा० कु०)

तात जाँय जिय करहु गलानी। ईस अधीन जीव गति जानी॥५॥
तीनि काल त्रिभुअन मत मोरें। पुन्यसिलोक तात तर तोरें॥६॥
उर आनत तुम्ह पर कुटिलाई। जाइ लोक परलोकु नसाई॥७॥
दोसु देहिं जननिहिं जड़ तेई। जिन्ह गुर साधु सभा नहिं सेई॥८॥

दो०—मिटिहहि पाप प्रपंच सब अखिल अमंगल भार।
लोक सुजसु परलोक सुखु सुमिरत नाम तुम्हार॥२६३॥

शब्दार्थ—**पुन्यसिलोक**=जिसका सुन्दर चरित्र या यश हो। पवित्र चरित्र या आचरणवाला, पुण्यात्मा, जिसका जीवन-वृत्तान्त पवित्र और शिक्षादायक हो। '**सिलोक**' (श्लोक)=कीर्ति, यश। तर=तले, नीचे। **अधीन**=वशमें, अधिकारमें।

अर्थ—हे तात! जीवकी गति (चाल) ईश्वरके* अधीन जानो। तुम व्यर्थ ही अपने हृदयमें ग्लानि करते हो॥ ५॥ मेरे मत-(विचार-) से तो तीनों कालों और तीनों लोकोंके पुण्यात्मा† तुम्हारे नीचे हैं। अर्थात् तुम्हारा-सा पवित्र-चरित्रवाला न हुआ, न है, न होगा॥ ६॥ हृदयमें भी तुमपर कुटिलता लाते ही (आरोपण करते ही बना-बनाया) लोक बिगड़ जाता है और (आगे) परलोकका सत्यानाश होता है॥ ७॥ जो माताको दोष देते हैं वे जड़ हैं, उन्होंने गुरु और साधुसमाजका सेवन नहीं किया॥ ८॥ तुम्हारा नाम स्मरण करते ही समस्त पाप, प्रपंच (मायाजाल, संसार) और सम्पूर्ण अमङ्गल-समूह मिट जायेंगे, लोकमें सुयश और परलोकमें सुख प्राप्त होगा॥ २६३॥

नोट—१ *'ईस अधीन जीव गति जानी।'* पु० रा० कु०—*'देखि न जाहिं बिकल महतारीं। जरहिं बिषम जर पुर नर नारीं॥'* का उत्तर है। इनके लिये शोक करना व्यर्थ है क्योंकि दैवाधीन हैं, कर्मानुसार दुःख सहा ही चाहें। भाव कि कर्मफल-भोगोंके अतिरिक्त दैवका ज्ञान नहीं होता। सुख, दुःख, भय, क्रोध, लाभ, हानि, उत्पत्ति, विनाश तथा इस प्रकारके और भी अज्ञातहेतुक जो कुछ होते हैं वे दैवके कार्य हैं।—'**सुखदुःखे भयक्रोधौ लाभालाभौ भवाभवौ। यस्य किंचित्तथाभूतं ननु दैवस्य कर्म तत्॥**' (वाल्मी० २। २२। २२) मनुष्य असमर्थ है, भाग्य ही उसे इधरसे उधर खींचा करता है, यह सब अपनी इच्छाकी बात नहीं है। यथा—'**नात्मनः कामकारो हि पुरुषोऽयमनीश्वरः। इतश्चेतरतश्चैनं कृतान्तः परिकर्षति॥**' (वाल्मी० २। १०५। १५)

नोट—२ *'जाइ लोक परलोकु नसाई'* इति। *'जाइ नसाई'* = *'नसाय जाइ'* = नाश वा नष्ट हो जाता है। दोनों मिलकर एक शब्द होते हैं। दूसरे, दो क्रियाएँ भी इनको पृथक्-पृथक् मान सकते हैं—'जाइ' और 'नसाई'। 'व्यर्थ जाता है, बिगड़ जाता है' और 'नष्ट हो जायगा या नष्ट हो जाता है। दोनों तरहका प्रयोग ग्रन्थमें हुआ है। लोकसुयश जाता रहता है और (मरनेपर) परलोकमें सुख न प्राप्त होगा। कुछ लोग 'जाइ' (=व्यर्थ) को प्रथमचरणके साथ लेकर अर्थ करते हैं—*'जो कोई व्यर्थ तुमपर कुटिलता……।'* (ख) *'उन आनत'* अर्थात् यह फल हृदयमें लानेका है और जो कहेंगे उनकी गति कौन जाने! (रा० प्र०)

नोट—३ *'दोसु देहिं जननिहिं जड़ तेई।……'* इति।—यह भरतजीके *'फरइ कि कोदव बालि सुसाली। मुकुता प्रसव कि संबुक काली॥'* इन वचनोंका उत्तर है। गुरु-साधु-सत्संगसे शीलकी प्राप्ति होती है, उससे बोध होता है कि जीवका कोई दोष नहीं, वह तो पराधीन है। पुनः साधुसेवनसे दूसरेके अवगुणमें भी गुण ही देख पड़ता है, यथा—*'अवगुन तजि सब के गुन गहहीं।'* (१३१। १) जैसे श्रीरामजी कैकेयीको बड़ी परोपकारिणी मानते हैं कि इतना बड़ा कलंक अपने माथेपर लेकर त्रैलोक्यका उसने भला किया—यह गुरुसाधुसभासेवनका फल प्रत्यक्ष दिखाते हैं। (रा० प्र०) (ख) कैकेयीका दोष सब कहते आये। भरत, वसिष्ठ, पुरवासी आदि किसीने भी छोड़ा नहीं, परंतु रामद्वारा उसकी निर्दोषिता ग्रन्थकारने यहाँ गाकर, उससे श्रीरामचन्द्रजीकी सर्वोपरि जानकारी सूचित की; यथा—*'नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥'*

नोट—४ *'मिटिहहि पाप प्रपंच सब……'* इति। ऊपर दो अर्धालियोंमेंसे एकमें भरतजीको और दूसरेमें कैकेयीको निर्दोष करार दिया। पर भरतजीपर भी बहुतोंने कुटिलताका आरोप किया था और कैकेयीको तो किसीने न छोड़ा था, और यहाँ प्रभुने कहा है कि इसका फल *'लोक जाइ परलोक नसाई' 'जड़ तेई……'* है। इससे सबके हृदय अवश्य शंकित हुए होंगे; इस विचारसे एवं भरतजीकी निर्दोषता और भी निस्सन्देह स्थापित करनेके लिये कहते हैं कि *'मिटिहहिं……'* यह मानो सबके उद्धारके लिये प्रायश्चित्त मन्त्रका उपदेश है। जो तुम्हारा नाम स्मरण करेंगे उनके सब पाप-प्रपंच आदि मिट जायँगे, इस कथनका भाव यह है जिसके नामका यह फल है, वह स्वयं कब पापात्मा हो सकता है। यह *'बिनु समुझे निज अघ परिपाकू। मोर अभाग उदधि अवगाहू॥'* इत्यादिका उत्तर है। और *'मिटिहहि'* से यह आशीर्वादरूप प्रसाद भरतजीको दिया गया।

* भरतजी तो आपको ही ईश मानते हैं। अतः उनको इससे यह समझाया कि यह हमारी ही इच्छा थी।

† यथा—पुण्यश्लोको नलो राजा पुण्यश्लोको युधिष्ठिरः। पुण्यश्लोका च वैदेही पुण्यश्लोको जनार्दनः॥' (अज्ञात)

कहउँ सुभाउ सत्य सिव साखी। भरत भूमि रह राउरि राखी॥ १॥
तात कुतरक करहु जनि जाएँ। बैर पेम नहिं दुरइ दुराएँ॥ २॥
मुनिगन निकट बिहग मृग जाहीं। बाधक बधिक बिलोकि पराहीं॥ ३॥
हित अनहित पसु पच्छिउ जाना। मानुष तनु गुन ग्यान निधाना॥ ४॥

शब्दार्थ—**बाधक**=बाधा डालनेवाले, दु:खदायी, हानि पहुँचानेवाले। **बधिक**=वध करनेवाले, प्राण लेनेवाला, बहेलिया, व्याधा।

अर्थ—हे भरत! मैं स्वभावसे ही सत्य कहता हूँ, शिवजी साक्षी हैं कि यह पृथ्वी तुम्हारे ही रखनेसे रह सकती है॥ १॥ हे तात! व्यर्थ कुतर्क (बुरी तर्कनाएँ) मत करो। वैर और प्रेम छिपाये नहीं छिपते*॥ २॥ मुनियोंके पास पक्षी और पशु जाते हैं, बाधा करनेवालों और मारनेवालोंको देखकर ही भाग जाते हैं॥ ३॥ पशु-पक्षी भी मित्र और शत्रुको पहचानते हैं फिर मनुष्य-शरीर तो गुण और ज्ञानका खजाना ही है॥ ४॥

नोट—१ '*कहउँ सुभाउ सत्य सिव साखी।* ....' इति। जैसे गुरुजीने कहा था कि '*जो कीजिय सो सुभ सिव साखी*' (२५८), और भरतजीने कि '*संकरु साखि रहेउँ एहि घायें*', वैसे ही यहाँ रघुनाथजी कहते हैं—'*कहउँ सुभाउ सत्य सिव साखी।*' तीनोंने सत्यताको प्रमाणित करनेके लिये शङ्करजीकी ही शपथ की है।

पं० वि० त्रिपाठी—सरकार कहते हैं कि यदि तुम ऐसा बरताव न करते तो स्वार्थसे अन्धी होकर सारी दुनिया नष्ट हो जाती। संसारके सामने बड़ा भयंकर आदर्श खड़ा हो जाता। '**राज्ञि धर्मिणि धर्मज्ञाः पापे पापाः समे समाः। राजानमनुवर्त्तन्ते यथा राजा तथा प्रजा॥**' राजाके धर्मज्ञ होनेसे प्रजा भी धर्मात्मा होती है, राजाके पापी होनेसे प्रजा पापी हो जाती है, प्रजा राजाके ही रास्तेपर चलती है, जैसा राजा होता है वैसी ही प्रजा हो जाती है। लोग समझने लगते कि अर्थ ही सब कुछ है, धर्म कुछ नहीं है, पर धर्मसे ही प्रजाका कल्याण होता है। अधर्मसे निश्चय विनाश होता है। अत: धर्म और प्रेमका आदर्श खड़ा करके तुमने संसारकी रक्षा कर ली।

नोट—२ '*भरत भूमि रह राउरि राखी*' इति। (क) श्रीरघुनाथजी इन शब्दोंसे उनको यह जना रहे हैं कि पृथ्वीकी रक्षा तुम्हारे ही हाथ है; क्योंकि हम वचन दे चुके हैं कि तुम जो कहो मैं वही करूँगा। यदि मैं वनको न गया तो पृथ्वीका भार न उतरेगा। दूसरा अर्थ यह है कि बिना तुम्हारे पृथ्वी रह नहीं सकती, क्योंकि तुम उसके भरण-पोषण करनेवाले हो, यथा—'*बिस्व भरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई॥*' (१। १९७। ७) (पाँ०)

पु० रा० कु०—भरतजीने अवधदरबारमें कहा था कि '*मोहि राजु हठि देइहहु जबहीं। रसा रसातल जाइहि तबहीं॥*' (१७९। २) यहाँ रघुनाथजी उसका निषेध करते हैं—(स्मरण रहे कि भरतजी अन्तर्यामी विशेषण प्रभुको देते आये हैं)—कि वह बात नहीं है, पृथ्वी तुम्हारे ही रखनेसे रह सकती है, यह सत्य कहता हूँ। भाव कि राजाका वचन तुम्हारे ही रखनेसे रह सकता है; देव, ऋषि, मुनि आदिका क्लेश तुम्हारे ही छुड़ाये छूटेगा। भाव कि तुम्हारे ही धर्मसे पृथ्वी थँमी है। राजा धर्मात्मा होना चाहिये—'*चाहिय धरमसील नरनाहू*' और तुम 'धर्मधुरन्धर' हो। ☞स्मरण रहे कि प्रभुने जो भरतजीके लिये अपनी प्रतिज्ञा छोड़ी वह यही जानकर कि ये धर्मधुरन्धर हैं, यथा—'*भरतहि धरमधुरंधर जानी। निज सेवक तन मानस बानी॥*' उन्हीं विचारोंको लिये हुए ये वचन प्रभु कह रहे हैं।

---

* यथा—'विमलं कलुषीभवच्च चेतो निगदत्येव हितैषिणं रिपुश्च'—(र० ब०)। बिहारीजीके दोहे देखिये, यथा—'रस कैसे रुख शशिमुखी हँसि हँसि बोलत बैन। मूढ़ मान मन क्यों दुरै भये बूढ़ रँग नैन॥' (बैर)। 'कोटि जतन कीजे तऊ नागरि नेह दुरै न। कहे देत चित चीकनी नई रुखाई नैन'—(प्रेम)—(वि० टी०)।

नोट—३ *'बैर पेम नहिं दुरइ दुराएँ'*— निषादराजने भी कहा है—*'बैर प्रीति नहिं दुरइ दुराए।'* (१९३। १)।

नोट—४ *'मुनिगन निकट बिहग मृग जाहीं।.........मानुष तनु.........'* इति। (क) जो कहा कि *'बैर पेम नहिं दुरइ दुराएँ'* उसको कैमुतिकन्यायसे सिद्ध कर रहे हैं। इस तरह कि पशु-पक्षियोंमें ज्ञान नहीं होता, पर वे भी पहचान लेते हैं कि कौन शत्रु है, कौन हित। हित जानकर पास जाते हैं। शत्रु-(व्याधा आदि-) को दूरसे देखकर भागते हैं और मनुष्य-देह (योनि) तो गुणज्ञानकी खानि है, मनुष्य गुणज्ञानका खजाना है फिर वैर और प्रेम इससे कब छिप सकता है। भरतजीने जो कहा था कि *'प्रेम प्रपंच कि झूठ फुर जानहिं मुनि रघुराउ'*, उसका यह उत्तर है। उन्होंने कहा—*'जानहिं मुनि रघुराउ'* उसीकी जोड़में यह वचन आगे है कि *'तात तुम्हहि मइँ जानउँ नीकें।—'निज हित अनहित पसु पहिचाना।'* (१९। ३) देखिये। (ख) भाव यह कि पशु-पक्षीसे भी हम गये-गुजरे नहीं हैं, प्रेम न होता तो हम भी क्यों यहाँ बने रहते, तुम्हारा आगमन सुनकर कहीं और चले न जाते (पु० रा० कु०)।

श्रीनंगे परमहंसजी—श्रीचित्रकूटमें जब भरतजीने श्रीरामजीसे अपनी सफाई ग्लानिसहित दी तब श्रीरामजीने भी श्रीजानकीजीसहित अपनी सफाई दी और कहा, *'तात कुतरक.........निधाना।'* यहाँ अपनी और श्रीजानकीजी दोनोंकी सफाई देते हैं, इससे विहंग और मृग दो उदाहरण दिये। पक्षीकी उपमा श्रीसीताजीके लिये है और मृगकी श्रीरामजीके लिये। केवल एक उदाहरण मृगका देनेसे अकेले श्रीरामजीको जाननेका बोध हो जाता, इसलिये दो उदाहरण देकर जनाया कि श्रीजानकीजी भी यह जानती हैं कि आप (भरत) हम लोगोंके हित हैं।

नोट—५ *'मानुष तनु गुन ग्यान निधाना'*— भाव कि हम तो मनुष्य हैं हम तुमको क्यों न पहिचानें। हम तुमको भलीभाँति पहिचानते हैं। तुमको हमारे सामने न तो सफाई देनेकी जरूरत है न ग्लानि करनेकी ही।

तात तुम्हहि मइँ जानउँ नीकें। करउँ काह असमंजस जी कें॥५॥
राखेउ रायँ सत्य मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ पेम पनु लागी॥६॥
तासु बचन मेंटत मन सोचू। तेहि तें अधिक तुम्हार सँकोचू॥७॥
ता पर गुर मोहि आयसु दीन्हा। अवसि जो कहहु चहउँ सोइ कीन्हा॥८॥

दो०—मनु प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करउँ सोइ आजु।
सत्यसंध रघुबर बचन सुनि भा सुखी समाजु॥२६४॥

अर्थ—हे तात! मैं तुम्हें अच्छी तरह जानता हूँ। क्या करूँ, जीमें बड़ा असमञ्जस हो रहा है॥५॥ राजाने मुझे त्यागकर सत्यको रखा और प्रेमपनके रखनेके लिये शरीर छोड़ दिया॥६॥ उनका वचन मिटाते मनमें सोच होता है, उससे भी बढ़कर तुम्हारा संकोच (मुलाहजा) है॥७॥ उसपर भी गुरुने मुझे आज्ञा दी है, अतः अवश्य ही वही करना चाहता हूँ जो तुम कहो॥८॥ मन प्रसन्न करके, संकोच छोड़कर कहो, मैं आज वही करूँ। सत्यप्रतिज्ञ रघुकुलश्रेष्ठ श्रीरामजीके वचन सुनकर समाज सुखी हुआ॥२६४॥

टिप्पणी—१ पु० रा० कु०— *'तात तुम्हहि मइँ जानउँ नीकें'* इति। भरतजीके *'जानहिं रघुराउ'* का उत्तर है—*'मइँ जानउँ नीकें'*, अर्थात् भलीभाँति जानता हूँ। क्या जानते हैं यह पूर्व लक्ष्मणजीसे कहा है—*'सुनहु लखन भल भरत सरीसा।.........'* (२३१।८) से *'निज जस जगत कीन्ह उँजियारी।'* (२३२।७) तक। इसीपर देवताओंने कहा कि *'कबिकुल अगम भरत गुन गाथा। को जानइ तुम्ह बिनु रघुनाथा।'* (२३३।२)

टिप्पणी—२ *'करउँ काह असमंजस जी कें'* इति। अर्थात् तुम्हारे प्रेमको मैं खूब जानता हूँ, इसीसे मैं बड़ी दुविधामें पड़ रहा हूँ कि क्या करूँ। असमंजसका स्वरूप तीन अर्धालियोंमें है। मैं उनको प्राणप्रिय था तो भी मेरा त्याग स्वीकार किया, सत्यका त्याग न किया, कैकेयीसे न कहा कि हम यह वर न देंगे, वचन दे दिया तो क्या? पिताको वचन हमसे अधिक प्रिय था। फिर हमारे प्रेमका भी निर्वाह किया

कि राम हमको प्राणप्रिय हैं, इनका त्याग करके प्राण रखें तो यह भी अनुचित है, ऐसा समझ प्राणोंसे भी अधिक हमारे प्रेमको मानकर प्राणोंका त्याग किया। ऐसे पिताके वचन मिटानेमें शोक और संकोच होता है [संकोचके भाव गीतावलीमें कविने खूब दिये हैं—*'ताते बिचारौ धौं हौं क्यों आवों। तुम सुचि सुहृद सुजान सकल बिधि बहुत कहा कहि कहि समुझाओं॥ निज कर खाल खैंचि या तनकी जो पितु पग पानहीं करावों। होहुँ न उरिन पिता दसरथसे कैसे ताके बचन मेटि पति पावों॥ तुलसिदास जाको सुजस तिहुँ पुर क्यों तेहि कुलहि कालिमा लावों। प्रभु रुख निरखि निरास भरत भये जान्यो है सबहिं भाँति बिधि बावों॥'* (२)] और दूसरी ओर तुम्हें देखकर तुम्हारा संकोच हो रहा है कि तुम्हारे प्रेमको कैसे तोड़ूँ, तुम्हारा कहना क्योंकर न करूँ। [अधिक संकोच क्यों? यह प्रश्न उठाकर उसका समाधान कई प्रकार लोगोंने किया है, (क) पिता परोक्ष हैं और भ्राता सम्मुख है। पर उत्तम पुरुषोंको परोक्ष और सम्मुखका विचार न करके धर्मका ही विचार रखना चाहिये अतः दूसरा समाधान यह है कि (ख)—पिताने पूर्णावस्था पाकर बुढ़ापेमें पुत्रप्रेममें प्राण दे दिये और भरतजीने युवावस्थामें भ्रातृप्रेमसे राज्य और भूषण आदिका भी त्याग किया। इसमें शङ्का होती है कि प्राण-त्यागसे राज्यत्याग कैसे अधिक हुआ? यह देखनेमें आता है कि कितने ही राज्य आदिके लिये प्राण दे देते हैं पर राज्य क्या थोड़ा-सा धन भी देनेको स्वीकार नहीं करते। जैसा बलिने कहा है—**'सुलभा युधि विप्रर्षे ह्यनिवृत्तास्तनुत्यजः। न तथा तीर्थ आयाते श्रद्धया ये धनत्यजः॥** (भा० ८। २०।९)॥' अर्थात् प्रतियोद्धाकी प्रार्थनाके अनुसार युद्धमें देहत्याग करनेवाले वीर पुरुष सुलभ हैं; किंतु सत्पात्रके उपस्थित होनेपर भी उसको श्रद्धापूर्वक उसका माँगा हुआ धन देनेवाले दानवीर पुरुष बहुत दुर्लभ हैं। (ग)—राजाने लोक-धर्म और लोक-लज्जाको प्रधान करके श्रीरघुनाथजीका त्याग किया और भरतजीने भ्राता आदिको छोड़ा (माता, पिता, गुरु, मन्त्री आदिके वचनोंका त्याग किया) लोकधर्मका त्यागकर रामजीके प्रेमको प्रधान रखा। उन्होंने साधारण धर्म रखा और भरतने अनन्य भागवत परमधर्म रख सबको तिलाञ्जलि दी—**'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'**— (गीता)।* (घ)—राजाने मरनेपर राज्य त्याग किया (जीतेमें भी युवराज्य ही देते थे); भरतजीने प्राप्त होनेपर भी त्याग कर दिया। (रा० प्र०)]

वेदान्तभूषणजी—कोई-कोई *'राखेउ रायँ सत्य मोहि त्यागी।'* और *'रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहु बरु बचन न जाई॥'* इन वाक्योंको लेकर कहते हैं कि 'राजाका प्रेम वचन-पालनपर ही जान पड़ता है, रामपर नहीं। यदि श्रीरामपर सत्य-प्रेम होता तो वे उनको वन न जाने देते।'

अनन्तकालसे शपथको बहुत बड़ा महत्त्व दिया गया है यदि कोई किसी कार्यके लिये किसी देवी-देवताकी शपथ खाये और फिर उस कार्यको पूरा न करे तो देवी-देवता उसका अनिष्ट करते हैं। इसी तरह यदि कोई अपनी या अपने किसी प्रियकी शपथ करके फिर वचनको पूरा न करे तो उस शपथ करनेवाले या उस प्रियके (जिसकी शपथ की गयी है) धर्म, तेज, आयु और बल आदिकी क्षीणता होती है। इसीसे कहा है *'साँचेहु सपथ अघाइ अकाजू'* इस शपथके तथ्यको मन्थरा खूब जानती थी। उसे निश्चय था कि राजाको रामप्रेमके आगे प्राण भी तुच्छ हैं। इसीसे उसने कैकेयीको समझाया था कि *'भूपति रामसपथ जब करई। तब मागेहु जेहि बचन न टरई॥'* इसमें आशय यह था कि राम-शपथ करनेके पश्चात् यदि राजा वचनसे टलते हैं तो प्राणप्रिय पुत्रकी आयु, तेज, धर्म, बल आदिकी क्षीणता होगी, जिसे राजा कभी सहन नहीं कर सकते। वे तो सदा वही करते थे जिससे 'राम' का मङ्गल—कल्याण हो, यथा—*'बिप्र साधु सुर पूजत राजा। करत राम हित मंगल काजा॥'*

उन्होंने *'भामिनि रामसपथ सत मोही'* कहकर *'बिहँसि माँगु मन भावति बाता'* कहा था। इस रामशपथके कारण ही राजाने एक बार भी स्पष्ट शब्दोंमें न कहा कि श्रीरामचन्द्रजी वनको न जायँ, यद्यपि अन्य बहुत-से उपाय किये कि श्रीरामजी रह जायँ। शापथिक बातके अन्यथा होनेसे श्रीरामजीका अनिष्ट होता, इसीसे

* वै०—पुनः यथा—'लौकिका वैदिका धर्मा उक्ता ये गृहवासिनाम्। त्यागस्तेषां तु पातित्यं सिद्धौ कामविरोधिता॥'—(शिवसंहिता), 'अन्ये विहाय सकलं सदसच्च कार्यं श्रीरामपङ्कजपदं सततं स्मरन्ति'—(महारामायणे)।

राजाने श्रीरामजीको वन जानेसे नहीं रोका। श्रीरामजीमें उनका सत्य प्रेम था इसीसे वे उनको वन जानेसे न रोक सके। राजाकी तो बात ही क्या, कोई भी अपने प्रेमपात्रका किञ्चिन्मात्र अनिष्ट नहीं चाहता; तब राजा अपने प्राणोंसे भी अधिक प्रिय पुत्रका अनिष्ट कैसे चाहते!!

टिप्पणी—३ पु० रा० कु०— *'मनु प्रसन्न करि'*······' इति। तुम्हारा संकोच अधिक है। तुम्हारा समाधान भी कर देता। पर गुरुजीने आज्ञा दी है, इससे तुम्हारी बातको हम टाल नहीं सकेंगे, जो कहोगे उसमें यदि हम कुछ आनाकानी करें, आगा-पीछा सोचें तो गुरुकी अवज्ञा हो जायगी। इससे हम तुम्हारा कहना अवश्य करेंगे। तुम निस्सन्देह होकर कहो।

टिप्पणी—४ (क) *'मनु प्रसन्न करि'* अर्थात् माताकी करनीके कारण मनमें जो ग्लानि हो रही है उसको दूर कर दो; क्योंकि वह निर्दोष है। ग्लानि दूर होनेसे मन प्रसन्न हो जायगा। दूसरे, जो तुम कहो वही मैं करनेको तैयार हूँ अत: प्रसन्न होना चाहिये। (ख) *'सकुच तजि'* इति। संकोच यह कि हम छोटे होकर बड़ेको कैसे आज्ञा दें। भरतजीने कहा था कि ***'महूँ सनेह सकोच बस सनमुख कहे न बैन';*** इन्हीं वचनोंको लक्ष्य करते हुए यहाँ प्रभु कहते हैं कि *'सकुच तजि कहहु।'* 'आजु' अर्थात् अवधि बीतनेपर नहीं, न कुछ दिन पीछे, तुरंत ही करूँगा। यह भी विश्वास दिलानेके लिये है। इसी प्रकार दशरथजी महाराजने कैकेयीसे कहा था—*'मागु माथ अबहीं देउँ तोही।'* (३४।७)।

टिप्पणी—५ *'सत्यसंध रघुबर बचन'*······' इति। '**रामो द्विर्नाभिभाषते**', राम दो वचन नहीं कहते। जो कहें वही करें, उसे कभी नहीं पलटते। इसीसे सब समाज प्रसन्न हुआ कि भरत तो लौटाने आये ही हैं, अब रामजी अवश्य अवध चलेंगे। यह बात समझकर इन्द्र आदि देवता डरे।

नोट—धनंजयसंहितामें भी ऐसा ही कहा है—(रा० ब०)

श्रीरघुनाथजीका प्रथम दरबार भाषण समाप्त हुआ।

'श्रीरामचरितमानसके दशरथजी महाराज'

मा० हं०—सभी कवियोंने चक्रवर्ती महाराजको कभी अधिक प्रमाणसे स्त्री-लम्पट कहा है। इतना ही नहीं वरन् इस एक स्त्री-लम्पटताके कारण इस पात्रका विपर्यास किया जाता है जो सर्वथा अनुचित है। क्योंकि कैकेयीकी वरयाचना उनके कानपर पड़ते ही स्त्री-लम्पटताका उनमें नाम-निशानतक न रहा। और बादमें उन्हें उसका स्पर्शतक नहीं हुआ।

स्त्री-लम्पटतासे मुक्त होनेपर 'सत्य-प्रेम' और 'पुत्र-प्रेम' इन दो विचारोंका जो प्रीतिषडाष्टक है वही गोसाईंजीके दशरथजी हैं—

पदार्थमें जिस गुणका सर्वातिरिक्त उत्कर्ष होता है वही उसकी विशेषता समझी जाती है। यह विशेषता बहुधा प्रमुखतासे एक ही गुणकी हुआ करती है। उसमें और दूसरे गुणोंकी जो उच्चता दिखायी देती है वह तत्त्वत: पूर्वोक्त विशेषताकी ही आनुषङ्गिक होती है।

अध्यात्म अथवा वाल्मीकिरामायणमें दशरथजीके सत्य-प्रेमकी अपेक्षा पुत्र-प्रेम ही विशेष प्रबल दिखलायी देता है। इस कारण उनके दशरथजीकी विशेषता पुत्र-प्रेम ही कही जायगी। स्वामीजीके दशरथजीका चरित्र बिलकुल ही भिन्न है। उन्होंने उन्हें इस प्रकार चित्रित किया है—***'बंदउँ अवध भुआल सत्यप्रेम जेहि राम पद। बिछुरत दीनदयाल प्रिय तन तृन इव परिहरेउ॥'*** इसमें हमें स्वामीजीका यह अर्थ दीखता है—'सत्य और रामपनमें (समान) प्रेम होनेके कारण रामवियोग होते ही······।' स्वामीजीके इस चित्रणमें सत्य-प्रेम और पुत्र-प्रेम दोनों उत्कर्ष दशरथजीके देहावसानके लिये समानतासे कारणीभूत हुए ऐसा गोसाँईजीका आशय स्पष्टतासे दिखायी देता है। अतएव उनके दशरथजीमें 'सत्य-प्रेम' और 'पुत्र-प्रेम' की दो विशेषताएँ मानना अपरिहार्य होता है। इन दो विशेषताओंके कारण उनके दशरथजीको कल्पनातीत महत्त्व प्राप्त होकर उनका चरित्र आदर्शभूत हुआ है। इस मतकी सत्यताका निदर्शन यहींसे प्रारम्भ होता है।

अध्यात्ममें दशरथजीकी पश्चात्तापकी यह उक्ति है कि वे रामजीसे कहते हैं कि हमें कैदकर तुम

राज्य करो, तुम्हें पितृ-आज्ञा-भङ्गका पाप न होगा और हम असत्यभाषणके पापसे भी बच जायँगे और लगभग वाल्मीकिजीके दशरथजी भी इन दशरथजीकी ही एक दूसरी प्रति हैं (अध्यात्म० सर्ग ३, श्लो० ६९; वाल्मी० सर्ग ३४, श्लो० २६)। इन दोनों दशरथोंका सूक्ष्म निरीक्षण करनेपर दीख पड़ेगा कि उनका सत्यप्रेम, पुत्रप्रेमके सामने बिलकुल ही लज्जित हो गया; अतएव उनकी धर्मनिष्ठा धूर्ततासे कलंकित हो गयी। गोस्वामीजीको ऐसे विरूप दशरथजी नहीं भाये और इसीसे उनको वे (दशरथ) असह्य हुए। लोकशिक्षाकी दृष्टिसे उनको *'प्रान जाइ बरु बचन न जाई'* ऐसे दशरथजीकी आवश्यकता थी। इसलिये उन दोनों दशरथोंमेंका पश्चात्तापसे पूर्ण भरा हुआ केवल हृदय ही लेकर, उसे उन्होंने असामान्य और लोकमान्य स्वरूपमें ला रखा। उनके वे दशरथजी ये हैं—

'सुनि सनेह बस उठि नरनाहा। बैठारे रघुपति गहि बाँहा॥'
'सुनहु तात तुम्ह कहँ मुनि कहहीं'........*'बहुत उपाय किए छल त्यागी॥'*

अब कोई भी देख लेवे कि इन तीनों दशरथोंमेंसे गोस्वामीजीके दशरथजीमें मनलज्जा, जनलज्जा, सत्यप्रियता, पिता-पुत्रकी मर्यादा, राम-सम्बन्धी आदर और प्रेम, कैकेयीके चिढ़ जानेका भय आदिके भाव कैसे मनोहर और मार्मिक रीतिसे दिखलाये गये हैं। लोकशिक्षाका तत्त्व यहाँ ओत-प्रोत भरा हुआ एकदम नजरमें आ जाता है। निरीक्षण और वर्णनकी गोसाईंजीकी यही खूबी है।

शील-निरूपण-चरित्र-चित्रण (आत्मपक्ष और लोकपक्षका समन्वय)

पं० रामचन्द्र शुक्ल—'सत्य और प्रेमके विरोधमें दोनोंकी एक साथ रक्षा करनेवाले यशस्वी महाराज दशरथ हैं। ये रामको वनवास देनेमें सत्यकी रक्षा और प्रतिज्ञाका पालन हृदयपर पत्थर रखकर उमड़ते हुए स्नेह और वात्सल्यभावको दबाकर—करते हुए पाये जाते हैं। इसके उपरान्त हम उन्हें स्नेहके निर्वाहमें तत्पर और प्रेमकी पराकाष्ठाको पहुँचे हुए पाते हैं। सत्यकी रक्षा उन्होंने प्रिय पुत्रको वनवास देकर और स्नेहकी रक्षा प्राण देकर की। यही उनके चरित्रकी विशेषता है—यही उनके जीवनका महत्त्व है। नियम और शील धर्मके दो अङ्ग हैं। नियमका सम्बन्ध विवेकसे है और शीलका हृदयसे। सत्य बोलना, प्रतिज्ञाका पालन करना नियमके अन्तर्गत हैं। दया, क्षमा, वात्सल्य, कृतज्ञता आदि शीलके अन्तर्गत हैं। नियमके लिये आचरण ही देखा जाता है, हृदयका भाव नहीं देखा जाता। पर शीलके लिये सात्त्विक हृदय चाहिये। कभी-कभी ऐसी विकट स्थिति आ पड़ती है कि एकको राह देनेसे दूसरेका उल्लङ्घन अनिवार्य हो जाता है। एक निरपराधको फाँसी हुआ चाहती है। हम देख रहे हैं कि थोड़ा-सा झूठ बोलनेसे उसकी रक्षा हो सकती है। अत: एक ओर तो दया हमें झूठ बोलनेकी प्रेरणा कर रही है, दूसरी ओर नियम हमें ऐसा करनेसे रोक रहा है। इतने भारी शीलसाधनके सामने तो हमें अवश्य नियम शिथिल कर देना पड़ता है।

दशरथजीके सामने दोनों पक्ष प्राय: समान थे—एक ओर तो सत्यकी रक्षा; दूसरी ओर प्राणसे भी अधिक प्रिय पुत्रका स्नेह। पर पुत्र-वियोगका दु:ख दशरथजीके ही ऊपर पड़नेवाला था। (कौसल्याके दु:खको भी परिजनका दु:ख समझकर दशरथका ही दु:ख समझिये।) इससे अपने ऊपर पड़नेवाले दु:खके डरसे सत्यका त्याग उनसे न करते बना। उन्होंने सत्यकी रक्षा की, फिर अपने ऊपर पड़नेवाले दु:खकी परमावस्थाको पहुँचकर स्नेहकी भी रक्षा की। इस प्रकार सत्य और स्नेह, नियम और शील दोनोंकी रक्षा हो गयी। रामचन्द्रजी भरतजीको समझाते हुए इस विषयको स्पष्ट करके कहते हैं—

'राखेउ राउ सत्य मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ प्रेमपनु लागी॥'

शील और नियम, आत्मपक्ष और लोकपक्षके समन्वयद्वारा धर्मकी यही सर्वतोमुख रक्षा रामायणका गूढ़ रहस्य है। वह धर्मके किसी अङ्गको नोचकर दिखानेवाला ग्रन्थ नहीं है। यह देखकर बारम्बार प्रसन्नता होती है कि आर्यधर्मका यह सार सम्पुट हिंदी कवियोंमेंसे एक ऐसे महात्माके हाथमें पड़ा जिसमें उसके उद्घाटनकी सामर्थ्य थी। देखिये, किस प्रकार उन्होंने रामके मुखसे उपर्युक्त विवेचनका सार चौपायीके दो चरणोंमें ही कहला दिया (ना० प्र०)।

गौड़जी—मानसमें राजा दशरथका सच्चा चित्र खींचा गया है। उनका चरित जैसा इसमें ध्वनित है उसका प्रमाण 'रामलला नहछू' और 'गीतावली'से मिलता है। सात सौ रानियोंका होना स्त्रैण होना सिद्ध करता ही है। परंतु इस स्त्रैण होनेके साथ ही 'पुत्र-कामना ही प्रधानतया कैकेयीसे विवाहका कारण है। उन्हें कैकेयीके राजी न होनेकी शंका पहलेसे जरूर थी और वह अन्तिम रात्रिमें कैकेयीको प्रसन्न करके शुभ संवाद सुनाने ही गये थे। दृश्यका पूर्वरंग तो *'काम प्रताप बड़ाई'* ही है। हाँ, वर माँगते ही स्त्रैणता लुप्त हो गयी। यह भी स्वाभाविक ही है। कितना ही कामी क्यों न हो, ऐसे भयानक परिणामको सोचकर भय, करुणा आदि भावोंकी प्रबलता अवश्य होगी। *'कवने अवसर का भयउ'* इसका उनके मन और शरीरपर वह गहरा धक्का लगा कि उनका बूढ़ा शरीर नितान्त अशक्य हो गया। वह जो गिरे, तो उठे नहीं। समर्थ होते तो स्वयं साथ चले जाते।

'सत्य' तो स्वयं भगवान् ही हैं। 'सत्या' सीताजीका नाम है। उन्हींको सगुणरूपमें पानेके लिये मनु-शतरूपाके रूपमें दशरथ-कौसल्याने तप किया था। परंतु दशरथने माँगा था *'सुतविषयक तव पद रति होऊ।'* सत्यमें सुत-विषयक रति विलक्षण रीतिसे रामायणमें दिखायी गयी है। सत्य प्रतिज्ञाके लिये मूर्तिमान् सत्यका त्याग असम्भव था। मूर्तिमान् सत्यमें अगाध प्रेम था। सत्य और प्रेम दोनोंकी यह पराकाष्ठा थी। इसीलिये उन्होंने रामको प्रत्यक्ष त्यागकर 'सत्य प्रतिज्ञा' की रक्षा की और शरीर एवं वैकुण्ठ-सुख त्यागकर सूक्ष्म देहसे भगवान्‌के साथ रहकर 'सत्य-प्रेम' की रक्षा की। निरन्तर साथ रहनेके लिये ही उन्होंने शरीर त्याग किया।

सुरगन सहित सभय सुरराजू। सोचहिं चाहत होन अकाजू॥ १॥
बनत उपाउ करत कछु नाहीं। राम सरन सब गे मन माहीं॥ २॥
बहुरि बिचारि परस्पर कहहीं। रघुपति भगत भगति बस अहहीं॥ ३॥
सुधि करि अंबरीष दुरबासा। भे सुर सुरपति निपट निरासा॥ ४॥
सहे सुरन्ह बहु काल बिषादा। नरहरि किए प्रगट प्रहलादा॥ ५॥

शब्दार्थ—**अहहीं**=हैं, रहते हैं। **अकाज**=कार्यकी हानि, अनर्थ। **नरहरि**=नृसिंहजी।

अर्थ—देववृन्दसहित देवराज इन्द्र भयभीत होकर सोच रहे हैं कि अब अनर्थ होना ही (काम बिगड़ना ही) चाहता है॥ १॥ कुछ उपाय करते नहीं बन पड़ता। मन-ही-मन सब श्रीरामजीकी शरण गये॥ २॥ पुनः विचारकर वे आपसमें कह रहे हैं कि रघुनाथजी तो भक्तकी भक्ति-(प्रेम-) के वश हैं॥ ३॥ अम्बरीष और दुर्वासाकी कथा याद करके देवता और इन्द्र बिलकुल निराश हो गये॥ ४॥ देवताओंने बहुत समयतक दुःख झेला, (तब भी) प्रह्लादहीने नृसिंहभगवान्‌को प्रकट किया था॥ ५॥

☞ विपत्ति, विषाद, भय और शोचके लिये (भरत चित्रकूट-प्रस्थानके समयसे या इस पूर्ण सोपानभरमें) दो ही स्थान बाँटे पड़े हैं—एक देवलोक, दूसरा अवध। ये कभी देवताओंमें जा पहुँचते हैं और वहाँसे हटे तो अवधवासियोंपर आ जाते हैं। अवधवासी सन्देहमें थे कि न जाने लौटेंगे या नहीं तब देववृन्द प्रसन्न थे, जब श्रीरामजीने भरतजीपर छोड़ दिया तब अवधवासी खुश हुए, इनको प्रसन्न देख देवता घबड़ाये (पां०, बै०)।

नोट—१ *'सुरगन सहित सभय सुरराजू……'* इति। (क) देववृन्द गौण हैं, इन्द्र मुख्य हैं; क्योंकि मेघनाद इन्द्रको बाँध ले गया था, यह देवताओंका राजा है, इसका विशेष मानमर्दन रावणद्वारा हो रहा है। रावणके भयसे भागा-भागा फिरता है। 'अकाज' यही कि भरत लौटनेको कहेंगे और ये लौटेंगे। (ख) सम्मुख जाकर विनती करें तो श्रीरामजीका भय, क्योंकि *'गये जान सब कोइ',* ऐश्वर्य खुल जानेसे ब्रह्माका वचन असत्य हो जायगा। दूसरे, भरतसे भय है क्योंकि उनका मनोरथ भङ्ग करनेमें भागवतापराध होगा और तीसरे रावणका भय (पं०)। (ग) 'सोचहिं' अर्थात् उपाय सोचते हैं। एक उपाय माया डालनेका भी है पर वह भी नहीं निश्चय कर पाते, क्योंकि गुरु प्रथम ही सुझा चुके हैं कि *'मायापति सेवक सन माया। करइ त उलटि परइ सुरराया॥'*

नोट—२ *'राम सरन सब गे मन माहीं'''''''* इति। कोई उपाय न बन पड़ा। तब हार मानकर सोचे कि रामको वश करें, श्रीरामजीके ही शरण गये कि आप ही रक्षा करें। *'मन माहीं'*— क्योंकि सम्मुख जाकर या वाणीद्वारा प्रकट करें तो अवधवासियोंका विरोध उनके ही सामने कैसे करें, दूसरे उपर्युक्त भय है। इसपर पुनः विचार किया तो सोचे कि हम इनकी शरण हुए, भरतजी भी इन्हींकी शरण हैं और भक्तशिरोमणि हैं, हममें भक्ति नहीं, हम स्वार्थके लिये भक्त हैं और वे निष्काम भक्त हैं। श्रीरघुनाथजी निष्काम भक्तोंके भक्तिके अधीन हैं और जो कोई सकाम भक्ति करे उसको तो उसकी कामना पूर्ण करके उससे उऋण हो जाते हैं। इनकी शरण जानेसे कुछ न होगा; क्योंकि इन्होंने दुर्वासासे स्पष्ट ही कह दिया है कि हम कुछ नहीं कर सकते,* तुम भक्तराजके पास ही जाओ, उन्हींसे तुम्हारा कल्याण होगा; शरणसे कुछ न होगा और माया भी कर नहीं सकते, तब अन्तिम भी उपाय गया। अतएव रामजीकी ओरसे बिलकुल निराश हो गये।

पुनः, *'भगत भगति बस अहहीं'* इसका एक उदाहरण प्रथम विचारमें आया। निराश-दशामें और भी सोचते हैं कि देखो हम सबको कितने वर्षोंतक हिरण्यकशिपु दुःख देता रहा; पर भगवान्‌ने कृपा न की और जब उनके भक्त प्रह्लादको उसने सताया तब वे तुरंत प्रकट हो गये और तुरंत उसका वध किया। वे भक्तोंके ऐसे वश हैं, वे ही जो चाहें करा सकते हैं।

पु० रा० कु०—देवताओंने प्रथम बार वृहस्पतिजीसे कहा था कि ***'बनी बात बेगरन चहति करिय जतन छल सोधि।'*** (२१७) उसपर गुरुने समझाया था कि —***'मायापति सेवक सन माया। करइ त उलटि परइ सुरराया॥'''''''यह महिमा जानहिं दुरबासा।'*** उसी क्रमसे यहाँ कहा है—***'सोचहिं चाहत होन अकाजू।'*** वहाँ छल करना चाहा था। पर गुरुने मना किया। उसीकी जोड़में यहाँ कहा कि ***'बनत उपाउ करत कछु नाहीं'*** अर्थात् छल भी नहीं करते बनता। गुरुने दुर्वासाका दृष्टान्त दिया था, उसीको यहाँ स्मरण करना कहा—***'सुधि करि अंबरीष दुरबासा। भे सुर सुरपति निपट निरासा॥'*** यहाँतक गुरुके पूर्वोपदेशको विचारा; फिर जो गुरुने कहा था उसके अनुकूल दूसरी बात अपने मनसे विचारकर कही—***'सहे सुरन्ह बहु काल बिषादा। नरहरि प्रगट किये प्रहलादा॥'*** यह उत्तम बुद्धिकी रीति है। हिरण्यकश्यपसे बहुत सताये जानेपर देवता भगवान्‌की शरण गये। उनकी प्रार्थना सुनकर भगवान्‌ने यही कहा था कि तुम्हारा सर्वथा कल्याण होगा, उस दैत्यके अत्याचारकी शान्तिका उपाय करूँगा, किंतु तुम समयकी प्रतीक्षा करो, यद्यपि वह अपनेको अमर माने हुए है तथापि जब वह अपने प्रिय पुत्र निर्वैर प्रशान्त महात्माको दुःख देगा तब तुरत उसका विनाश होगा। **'मा भैष्ट विबुधश्रेष्ठाः सर्वेषां भद्रमस्तु वः। मद्दर्शनं हि भूतानां सर्वश्रेयोपपत्तये॥ ज्ञातमेतस्य दौरात्म्यं दैतेयापसदस्य च। तस्य शान्तिं करिष्यामि कालं तावत्प्रतीक्षत॥ यदा देवेषु वेदेषु गोषु विप्रेषु साधुषु। धर्मे मयि च विद्वेषः स वा आशु विनश्यति॥ निर्वैराय प्रशान्ताय स्वसुताय महात्मने। प्रह्लादाय यदा द्रुह्येद्धनिष्येऽपि वरोर्जितम्॥'** (भा० स्क० ७ अ० ४। २५—२८) इस उदाहरणसे परस्पर एक-दूसरेको समझाते हैं कि हम लोगोंकी प्रार्थनापर भी तुरत दुःख दूर करना अङ्गीकार न किया था पर प्रह्लादके लिये तुरत खम्भसे निकल पड़े। अतः यह निश्चय किया कि भरतके आगे हमारी कुछ सुनवायी न होगी।

लगि लगि कान कहहिं धुनि माथा। अब सुरकाज भरत के हाथा॥६॥

---

* 'अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज। साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥ नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना। श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा॥ ये दारागारपुत्राप्तान्प्राणान्वित्तमिमं परम्। हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥ मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः। वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥ साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्। मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥ (भा० ९। ४। ६३—६६, ६८)। इसका अर्थ सरल है और पूर्व प्रियादासजीके कवित्तमें आ गया है। २१८ (७) देखिये।